

फिर मिलेंगे

लेखक—

श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह

मूल्य—आठ आना

प्रकाशक—दिलीन्द्रमोहन मिश्र,
माया कार्यालय,
इलाहाबाद ।

Copyright reserved with the publisher

मुद्रक—वीरेन्द्रनाथ,
माया प्रेस,
इलाहाबाद ।

चूड़ियाँ

“बहूजी ! चूड़ी पहिनोगी, बहूजी ?”

उत्तर नहीं मिला ।

“बहूजी ! ओ बहूजी !”

“कौन है ?”

“सुदिहारिन ।”

“बच्छा ।”

दरवाजा खुला ।

“चूड़ी पहिनोगी, बहूजी ?”

“हाँ, हाँ, आओ, सुदिहारिन,” बूढ़ा ने उत्तर दिया—“तुम्हारा तो इन्तज़ार ही हो रहा था । न आती, तो नौकर भेज कर बुलवाती ।”

“आती बैसे न बहूजी ?” घर में प्रवेश करते हुये सुदिहारिन ने कहा—“साब्र भाल भर का त्योहार ठहरा । महीनों से आसरा लगा था । यों तो ठीका ही रहता है, लेकिन त्योहार पर चार पैसे ज़रूर मिल जाते हैं ।”

“यह तो हर्र है । वैसे तो बहुत ज़रूरत पड़ने पर नई चूड़ियाँ पहिनी जाती हैं, लेकिन त्योहार पर तो सब को नई चूड़ियाँ पहिननी ही पड़ती हैं ।”

“हाँ, बहूजी, और क्या !”

शौचन में पहुँच कर सुदिहारिन ने कमर से टोकरी उतार कर फर्श पर रख दी, और टोकरी की बाल में बैठ कर सुस्ताने लगी ।

“बड़ी गर्मी है, बहूजी !”

“हाँ, बड़ी गर्मी है । सावन का महीना ठहरा, और हूधर कई दिन से पानी नहीं बरसा ।”

“जल्दी करो, बहूजी । अभी बहुत जगह जाना है । कल ही सुदिया है । जहाँ न पहुँचूंगी, वहाँ उबहना मिलेगा ।”

“बड़ी बहू !” बूढ़ा न आवाज़ लगाई ।

“बया है, धम्मोत्ती ?” ऊपर से आवाज़ आई ।

“मासो, देसो, बुद्धिहारिन काई है । मेकडो बटु काई है ?”

“वही मही है ।”

‘वहो हूँ, अमर्तोर्जा,’ इधर के एक बसो मे निरुत्तर कर मैसत्री बहुत न कहा ।

“सूँचिपी लही पद्धिनीगी क्या है ?”

“पद्धिनीगी बसो मही है ?”

“तो अयो न । शरी अयो क्या देस रहो हो ?”

“जोर्जा को सा जाने दीजिये ।”

“काई जानो हूँ पटु भी । तर तर तुम चा कर पगभू करो । बुद्धिहारिन को देर हो रहो है ।”

तब मैसत्री बहुत धीरे-धीरे ज्ञान में उतरा का अज्ञान में चलेगी । बुद्धिहारिन ने तुम्हें टोकरों से बरफा डराया, और सूँचिपी रिताले लगी । तर-तर के रंगों की, भक्ति भक्ति के डिजापनों की सूँचिपी टोकरों में भरो पड़ी थी ।

“देसो, बहूमा, यह बिलकुल नये प्रान्त को सूँचो है । अमा विमपीर से काई है । काजिजाँ के घर में बहुत पदभू का गई ।”

“दिनने को हूँ ?”

“हो जाने को ?”

“हो जाने को पटु ?”

“हाँ, बहूमा । तुम्हारे यहाँ भी दाग बना का नदो बननी । बिलकुल टोक यताती हूँ ।”

“क्या अयोर कातो हो, बुद्धिहारिन ?” युद्धा सास ने कहा—“दू, जाने की पृथ । अज्ञान्यो अनोर्था बात है इतने ?”

“अनोर्था बात बनापट मे होती है, बहूमा । येमे तो सभी सूँचिपी धोंष की ही होती है । देसो, इसकी बनापट, इसकी नकलगी, इसका रंग । जिस हाथ में पड़े वह अमक उठे ।”

“यह सब तो टोक है, ” मैसत्री बहुत ने कहा—“लेकिन नाम नं. हर अंग का पालिष होना चाहिये ।”

घरने नयनात शिशु को गोद में लिये हुए यही बहुत भी सा पहुँचे । सूँचिपी देसो जाती रही, मोक्ष भाव होता रहा ।

बाहर से दौड़ती हुई लज्जा भी आ पहुँची। उसकी बाँधें खिन्न गईं।

“दादा, दादी ! मैं भी चूड़ी पहिनींगी !”

“हाँ, हाँ, पहिन, ज़रूर पहिन। न पहिनेगी, तो पुरखिन कैसे बनेगी ?”

“मैं वह लाल चूड़ी पहिनींगी। ओ हो-हो ! कैसी खरदी चूड़ी है !” लपरु कर एक थड़ी-सी लाल चूड़ी लज्जा ने अपने हाथ में ढाल ली।

“रहने दो, बिटिया,” चुदिहारिन ने कहा—“वह बहुत बड़ी है। टूट जायगी।”

लज्जा हँस कर श्रांतन में नाच उठी।

“वाह री, लक्ष्मी !” बड़ी बहू बोली—“देखो, तो इसका दीदा ! खल हथर !”

“रख दो उसे, बिटिया,” बूढ़ा ने कहा—“तुम्हारे ज्ञायक वह चूड़ी नहीं है। देखो, यह है तुम्हारे ज्ञायक।”

“कौन-सी ? कौन-सी ?”

ऊपर के एक कमरे की खिड़की से एक नवयुवती श्याम का यह दृश्य देख रही थी। उसके केश रूखे थे, उसकी माँग सूनी थी, उसके हाथों में चूड़ियाँ नहीं थीं। उसके हाथ सूने थे, पैर सूने थे, गला सूना था, कानों में इँदर-रिंग भी नहीं थे, न क में कील भी नहीं थी। केवल एक साक साड़ी और एक साक जम्पर उसके शरीर पर था। किन्तु उसके लम्बे, दुबले, सुडील शरीर से यौवन फूटा पड़ रहा था, सौंदर्य विखरा जा रहा था। उसके शुष्क चेप में उस पर परदा ढालने का सामर्थ्य नहीं थी ! सौंदर्य प्रकृति की देन है, चेप मानव का आविष्कार। तब मानव के विद्रोह के सम्मुख प्रकृति कैसे झुके ? उसका मन मर्म-वेदना के भार से भारी हो उठा। एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर, उस खिड़की से हट कर, दूसरी ओर की खिड़की के सामने क्रश पर पड़ी हुई चटाई पर जा कर वह अस्त-व्यस्त बैठ गई। एक वह दिन भी या जब इस घर की अन्य बहुश्रों की तरह ऐसे अवसरों पर चूड़ियाँ पहिनने के लिये वह भी बुलाई जाती थी। लेकिन आज ? ओह ! आज कैसा बिकट, कैसा भयानक, कैसा दुःखदायक अन्तर उसकी स्थिति में आ गया है। ये चूड़ियाँ ! बाँध की इन चूड़ियों की क्या कीमत है, क्या विसात है ? लेकिन इन मामूली-सी चूड़ियों को पहिनने के लिये भी खी के पास एक विशेष

प्रकार का अधिकार होना चाहिये। कहीं है धाज उसके पास वह अधिकार ? हाथ रे जबा भाग्य !

शाकाश में यादल उमड़ने लगे थे। हवा बन्द थी। प्रकृति मौन थी, मानो अन्दर उठते हुए तूफान को दाबने का प्रयत्न कर रही हो। बल के लिये तदपती हुई गुन्डलाई हरियाली दूर तक फैली हुई थी। उभर दीवती हुई यात्रियों की छाया की ओर वह देख रहा थी। लेकिन वह देख रही थी कुछ नहीं।

कैला सुन्दर था वह समय जब उसे भी वह अधिकार प्राप्त हुआ था !
 पू० ए० पाम कर चुकने के बाद वे एल-एल० बी० फ्राइमन में पत्र रहे थे। एक दिन अपने एक मित्र के साथ, जो उसके पिता के भी मित्र थे, वे उसके घर गये थे। पिता ने अन्दर जा कर वसे पान खाने की आज्ञा दी थी। तब पिता के आदेशानुसार एक तरतरी में पान खे कर वह बैठक में गई थी। प्रताप ने उसे आँख भर कर देखा था। उमने भी उन्हें देखा था एक बार। कितने अचलें लगे थे वे ! तरतरी गेठ पर रख कर वह बैठक से छीट आई थी, लेकिन छीटने की जो नहीं चाहता था। उस दिन उसके मन में एक साथ बात गई थी, और आगे पत्र कर वह साथ पुरा हुई थी। एक पलबारे के बाद उसके पिता प्रताप के पिता के पास विवाह का प्रस्ताव खे कर गये थे, और प्रताप के पिता ने शिष्टतापूर्वक इनकार कर दिया था। कितने उदास हो कर उसके पिता घर छीटे थे ! हसियत में प्रताप के पिता से वे थोड़ा कम थे, लेकिन उन्हें अपनी कुत्रोपता पर, अपनी अदृष्टता पर, अपनी पुरी पर गर्व था। उनके उतर गर्व को प्रताप के पिता की अस्वीकृति से गहरी चोट पहुँची थी। वह तब सुन कर प्रताप से विरोध का अडा उडाया था। एक दिन उन्होंने अपने पिता से साठ-साठ कह दिया था कि वे या तो बापू कमलकिशोर की पुरी आराधना के साथ विवाह करने या जीवन भर कीमार्ग-जग भारण किये रहेंगे। गुमराह पुत्र को डीक शाले पर खाने की रिवा ने हर तरह कोशिश की थी, लेकिन धनका निरकष आश्रय शक्ति हुआ था। तब अजबूर हो कर बापू मुदवहाप को पुत्र के मुदाह के सामने मुहना पवा था। उगी वर्ष शुभ काश में उनके मनमोहन से उसका शुभ विवाह अमम हुआ था। एक घनी हव दयार्थीय है मेक में वा-वापू का विमककःनः न हुआ था। दोनों की भुरि-भुरि प्रसंसा हुई थी। मापक से विशा हो कर यह अम्याज आई थी। और प्रमम मिशन की अब रैगीली राज की उन

दोनों का पारस्परिक सुख अपना पराकाष्ठा को पहुँच गया था। पथिक मंजिल पर पहुँच कर आनन्द से विभोर हो गये थे। उसी वर्ष बकायत की परीक्षा में भी वे उत्तीर्ण हो गये थे।

वे उसे कितना प्यार करते थे ! वह अपने को धन्य मानती थी, और कामना करती थी कि प्रत्येक खाँ को प्रताप-जैसा ही पति मिले। लेकिन अकसर एकान्त में उसके मन में यह विचार उठता कि उसकी रस-भरी गागर कहीं छलक न जाय, गिर कर टूट न जाय। तब किसी अज्ञात आशंका के आतंक से उसका मन भर जाता।

भाग-पंघमो का ही वह भी दिन था। साधारण नियम के विररीत कारणवश उसे ससुराल में ही रुकी रहना पड़ा था। वह सारे दिन हवा में उड़ती रही थी। उसका हृदय टबलास से उड़ता पड़ रहा था। अन्तर्देश में किसी चिन्ता की, किसी अशान्ति की छाया नहीं थी। आमोद किलकारियाँ मार रहा था, जीवन रस घोल रहा था—रंगोन, मदमाती तितली की तरह उड़ रहा था पल-पल। दिन बीता। रात आई। ग्यारह बजे। उसने शयनागार में प्रवेश किया। प्रताप ने उसे सबल भुजाओं में भर लिया। फिर उन्होंने उसका नख से शिख तक अपने हाथों से अंगार किया और चूड़ियाँ पहिनाई, जो प्रुद यात्रार से झरीद्र कर लाये थे।

“इस समय परी लग रही हो तुम !”

“रहने भी दो !”

“सच कहता हूँ, आशा।”

“परियाँ हन्द्रपुरी में रहती हैं। यह तो मानव-लोक है।”

वे हँस पड़े।

“उतना खिजाओ, जितना हजम हो सके !”

“बदहजमो से डरती हो ?”

“हाँ, डरती हूँ।”

और—

खौंखू भर-भर गिरने लगे उसकी आँखों से।

×

×

×

दरवाजा खबखड़ा उठा।

“बोटी चार्ची !”

प्रकार का अधिकार होना चाहिये। कहीं है याज उसके पास वह अधिकार ? हाय रे जन्मा भाग्य ! ।

आकाश में बादल उमड़ने लगे थे। हवा बन्द थी। प्रकृति मौन थी, मानो अन्दर उठते हुए तूफान को दायने का प्रयत्न कर रही हो। जल के लिये तड़पती हुई कुम्हलाई दरियाजी दूर तक फैली हुई थी। उधर दीर्घता हुई बादलों का छाया की ओर वह देख रहा थी। लेकिन वह देख रही थी कुछ नहीं।

कैला सुन्दर था वह समय जब उसे भी वह अधिकार प्राप्त हुआ था। एम० ए० पास कर चुकने के बाद वे एल एल० बी० ग्राहमर में पढ़ रहे थे। एक दिन अपने एक मित्र के साथ, जो उसके पिता के भी मित्र थे, वे उसके घर गये थे। पिता ने अन्दर जा कर उसे पान खाने की आज्ञा दी थी। तब पिता के आदेशानुसार एक तरतरी में पान ले कर वह बैठक में गई थी। प्रताप ने उसे आँख भर कर देखा था। उसने भी उन्हें देखा था एक बार। कितने अच्छे लगे थे वे। तरतरी में पर रख कर वह बैठक से खीट आई थी, लेकिन खीटने को जो नहीं चाहता था। उस दिन उसके मन में एक साथ बस गई थी, और भागे खल कर वह साथ पूरी हुई थी। एक पलबारे के बाद उसके पिता प्रताप के पिता के पास विवाह का प्रस्ताव ले कर गये थे, और प्रताप के पिता ने शिष्टता पूर्वक इनकार कर दिया था। कितने उदास हो कर उसके पिता घर लौटे थे। हैसियत में प्रताप के पिता से वे बेशक कम थे, लेकिन उन्हें अपना कुलानता पर, अपनी भद्रता पर, अपनी पुत्री पर गर्व था। उनके उस गर्व को प्रताप के पिता की अस्वीकृति से गहरी खीट पहुँची थी। यह सब सुन कर प्रताप ने विद्रोह का झंडा उठाया था। एक दिन उन्होंने अपने पिता से साकू साकू कह दिया था कि वे या तो बाबू कमलकिशोर की पुत्री आशाकला के साथ विवाह करेंगे या जीवन भर कौमार्य-व्रत धारण किये रहेंगे। गुमराह पुत्र की ठीक रास्ते पर जाने की पिता ने हर तरह कोशिश की थी, लेकिन उनका निरवयव भद्र साबित हुआ था। तब मगधपुर हो कर बाबू गुदमहाय को पुत्र के दुरामह के सामने झुकन पड़ा था। उसी वर्ष शुभ खन में उसके मनमोहन से उसका शुभ विवाह सम्पन्न हुआ था। एक प्रतिष्ठित स्थानीय दैतेक में घर-बधू का चित्र प्रकाशित हुआ था। दोनों का भूरि-भूरि प्रशंसा हुई थी। मायके से विदा हो कर वह समुराज आई थी। और प्रथम मिशन की उम रंगीली रात को इन

दोनों का पारस्परिक सुख अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था। पथिक मंजिल पर पहुँच कर ध्यानन्द से विभोर हो गये थे। उसी वर्ष बकासत की परीक्षा में भी वे उत्तीर्ण हो गये थे।

वे उसे कितना प्यार करते थे ! वह अपने को धन्य मानती थी, और कामना करती थी कि प्रत्येक खो को प्रताप-जैसा ही पति मिले। लेकिन अकसर एकान्त में इसके मन में यह विचार उठता कि उसकी रस-भरी गागर कहीं छलक न जाय, गिर कर टूट न जाय। तब किसी अज्ञात आशंका के आतंक से उसका मन मर जाता।

नाग-पंचमी का ही वह भी दिन था। साधारण नियम के विपरीत कारणवश उसे ससुराल में ही रुकी रहना पड़ा था। वह सारे दिन हवा में उड़ती रही थी। उसका हृदय उद्वेग से उछलता पड़ रहा था। अन्तर्देश में किसी चिन्ता की, किसी अशान्ति की छाया नहीं थी। आमोद किलकारियाँ मार रहा था, जीवन रस घोड़ रहा था—रंगीन, मदमाती तितली की तरह उड़ रहा था पल-पल। दिन बीता। रात आई। ग्यारह बजे। उसने शयनागार में प्रवेश किया। प्रताप ने उसे सबल भुजाओं में भर लिया। फिर उन्होंने उसका नख से शिख तक अपने हाथों से शृंगार किया और चूड़ियाँ पहिनाई, जो झुद बाज़ार से खरीद कर लाये थे।

“इस समय परी लग रही हो तुम !”

“रहने भी दो !”

“सच कहता हूँ, धारा !”

“परियाँ इन्द्रपुरी में रहती हैं। यह तो मानव-लोक है।”

वे हँस पड़े।

“उतना खिजाओ, जितना हाजम हो सके !”

“बदहजमी से डरती हो ?”

“हाँ, डरती हूँ।”

और—

चाँसू ऋ-ऋ गिरने लगे उसकी भ्रौंखों से।

×

×

×

दूरवाणी खड़खड़ा उठा।

“छोटी लाली !”

“हाँ !”

“दरवाजा खोलो, छोटी चाची !”

“अच्छा !”

छोटी पेंदु दर, दर दर, आवाज में कमरे का दरवाजा खोलती । छत्ता लगाकर अन्दर आई ।

“मैंने खुदियाँ पहिनी हैं, छोटी चाची,” हँस कर अम्मा ने कहा—
“देखो, कैसी हैं ?”

“अच्छी हैं !”

आशा अम्माई पर घेठ गई । अम्मा उसकी सोद में आसानी हो गई ।

“तुमने खुदियाँ नहीं पहिनी, छोटी चाची !”

“नहीं !”

“क्यों नहीं पहिनी ?”

“ऐसे ही !”

“उजला तो, छोटी चाची !”

“सुभे खुदियाँ नहीं पहिननी चाहिये ।

“वह क्यों ?”

“कभी तुम छोटी हो, अम्मा ! कभी हो आसानी, सब सुभे सब आसानी हो जायगा !”

“छोटी चाची !”

दर नही मिला । अम्मा ने उसकी चोर देखा ।

“बरे, तुम रो रही हो, छोटी चाची !”

आशा आँसु पेंदुने छगी । अम्मा उससे लिपट गई ।

“न रोओ, छोटी चाची, न रोओ !” रोनी आवाज में अम्मा ने अनुनय किया ।

“नहीं, यिदिया, रोती नहीं हूँ,” मराये हुए वयठ से आशा ने कहा । और अम्मा रूँट से वह उसकी पीठ पर थपकियाँ देने लगी ।

(२)

रात भीग लुफी थी । पानी बरस कर गिरल गया था । आकाश के काले परदे में तारे मलमल रहे थे, और हड़ हड़ कर बिजली चमक उठती थी । शीतल, मन्द बयार यह रही थी । दरने कमरे में खिड़की के सामने

पार्श्व पर विद्यी हुई चटाई पर पड़ी हुई आशा आकाश की ओर ताक रही थी। विचार चल रहे थे उसके मस्तिष्क में।

वह अधिकार क्या उसे पुनः प्राप्त नहीं हो सकता? हो क्यों नहीं सकता? बस, इस घर की कैद से निकलने भर की देर है। क्या वह इस कैद से निकल नहीं सकती? निकल क्यों नहीं सकती? उसे कौन रोक सकता है? लेकिन इस कैद से निकल कर यह कहाँ जायगी? प्रमोद के पास? पागल प्रमोद! कल्पना का रंगीन चश्मा लगा कर देखने से जो वस्तु रंगीन दीखती है, वह सचमुच रंगीन हो तो नहीं जाती? घटा खिलौना देख कर मचलता है, किन्तु उस खिलौने के प्रति उसका आकर्षण सदैव बना तो नहीं रहता? पुरुष स्त्री के प्रति आकृष्ट होता है, किन्तु केवल उम्र स्त्री का शरीर पा कर वह सन्तुष्ट नहीं रह सकता! सन्तुष्ट रहने के लिये उस स्त्री से उसे और कुछ चाहिये। प्रमोद को देने के लिये उसके पास और कुछ कहाँ है? वह तो उस व्यक्ति के साथ चला गया, जिसने पहले-पहल उसके जीवन में आ कर उसके हृदय को झूठ किया और समस्त बाधाओं से लड़ कर उसे अपनी बनाया।

इस परिवार से प्रमोद का दूर का सम्बन्ध था। धनी पिता का वह पुत्र था, स्वरूपवान् था, सुशिक्षित था, सम्य था, हंसमुख था, गर्भीर था, भावुक था, दिलवाला था, और दिल की कद्र कर सकता था। अक्सर वह इस घर में आता और उससे मिळता। कभी कोई भरी बात उसने नहीं की। लेकिन प्रताप की मृत्यु के एक वर्ष के बाद एक दिन उसने अपना हृदय उसके सामने खोल कर रख दिया। वह उसके कमरे में आया, नमस्कार किया, और उसके सामने एक पत्र फेंक कर चला गया। अनाप-शनाप बातें भरी थीं उस पत्र में। उसके प्रति अपने अगाध प्रणय की चर्चा उसने की थी, और याचना की थी उससे उसकी प्रीति की। "...तुम्हें मैं क्यों चाहता हूँ, यह मैं नहीं जानता। प्रणय तर्क पर आधारित नहीं होता। उसकी जड़ जिस गहराई में होती है, वहाँ तर्क की पहुँच नहीं हो सकती। मैं तो सिर्फ यह जानता हूँ कि तुम जैसी स्त्री मैंने आज तक नहीं देखी। मैं देखता हूँ तुम में सम्पूर्ण नीराश्व का रूप, और उसकी आराधना करता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरा यह निरर्थक जीवन तुम्हें पा कर सार्थक हो जायगा। मेरी शन सकोगी, आशा? मेरी और कोई बाधा नहीं है। अपनी इच्छा-अनिच्छा, रुचि-

अर्थात्, विरवास अविरवास का स्वामी मैं स्वयं हूँ, और मेरे कर्मे पर किसी अन्य शक्ति का नियंत्रण नहीं है। इस मामले में किसी के विचारों की परवाह मैं नहीं करूँगा। तुम्हारी और भी कोई व्यवधान न पड़ सकेगा, यदि तुम सहमत हो सको। तुम भी स्वतंत्र हो और मैं भी स्वतंत्र हूँ। सुधारवादी ढंग से इस विवाह के सूत्र में बँध कर यहाँ या कहीं अन्वय स्वतंत्रता-पूर्वक रह सकते हैं। जीवन मार्ग संतुष्टकार्कीर्ण है। अकेले चलने में पग पग पर कठिनाइयाँ हैं, किसी के साथ हो खेने से रास्ता आसानी से कू सकता है। बग़ा छो मुझे अपना सती, अनुरोध करता हूँ, बित्त्य करता हू, मिथा माँगता हूँ! कभी साथ नहीं छोड़ूँगा, वचन देता हूँ! कभी इस वचन से हटने देखना, तो मेरा काम तमाम कर-देना। वेवका बन कर जीना मैं स्वयं पसन्द न करूँगा। ” ऐसी ही बातें उस पत्र में भरी थीं। उसे पढ़ कर वह प्रसन्न नहीं हुई। उसने उसे फाड़ बाँटना चाहा, जाला टाँटना चाहा, लेकिन यह सब वह कुछ नहीं कर सकी।

तीन दिन के बाद वह आया।

“उत्तर माँगने आया हूँ आमी।”

“उत्तर ?”

“हाँ, उत्तर ?”

“ओ कुछ चाहते हो, खाला, वह मेरे पास नहीं है।’

‘यह मैं नहीं मान सकता।’

‘न मानना चाहो, तो न मानो।’

‘सब कुछ तुम्हारे पास है। न देना चाहो, तो न दो।’

“खाली घोंसले से सन्तुष्ट रह सकोगे ?”

‘बिदिया भी है घोंसले में।’

‘यह भूख है तुम्हारी। यह तो उड़ गई।’

“लेकिन मैं तो उसे देख रहा हूँ।’

‘यह तुम्हारी दृष्टि का भ्रम है।’

‘और अगर तुम्हें ही भ्रम हो रहा हो तो ?’

‘तो ?’

“हाँ, तो ?”

वह विचारों में डूब गई। बिदिया सामने आ खड़ी हुई।

“तुम्हें सोच-विचार कर उत्तर देना। कोई जल्दी नहीं है। मैं मतीषा कर सकता हूँ।’

प्रमोद चञ्चा गया। वह चित्र-लिखित-सी बैठी रही।

एक पखवारे के बाद वह फिर आया, लेकिन उत्तर न पा सका। वह बराबर आता और निराश हो कर लौट जाता। वह प्रतीक्षा करता रहा—करता रहा।

प्रमोद का कथन सत्य है? वह स्वयं भ्रम में है? नहीं, नहीं। किन्तु वह दुःख का भारी बोझ लिये क्यों जी रही है? उसके मन में कामनायें क्यों उठती हैं? उसे संसार से उठ जाने की प्रेरणा नहीं हुई। कठोर अनुशासन को प्रतिक्रिया कामनाओं को जन्म दे रही है। किन्तु—प्रमोद! दीवाना प्रमोद!

अथावनी रात थी। रोग-शय्या पर अचेन पड़े थे प्रताप। चालीस दिन बीत चुके थे, लेकिन उबर उतरने का नाम नहीं लेता था। उनका सुन्दर, बलिष्ठ शरीर सूख कर काँटा हो गया था। कमरे में मोमबत्ती का मन्द प्रकाश फैला था। एक कुर्सी पर बैठी हुई चिन्तित दृष्टि से वह उनके मुर्माये चेहरे को धोर देख रहा था। सहसा उन्होंने आँखें खोलीं।

“आशा!”

“जी हाँ।”

“उजड़ा जा रहा है मेरा संसार! विवश हूँ, आशा।”

“यह क्या कह रहे हैं आर?”

“बिलकुल ठीक कह रहा हूँ।”

“शान्त रहिए। उत्तेजित न होइये। इयादा बात न काँतिए। डाक्टर ने मना किया है।”

“इयादा बात करने की मुझे हृद्य भी नहीं है। बस, तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ। अभी मौका है। थोड़ी देर के बाद निकल जायगा मौका।”

आशा की आँखों में आँसू छलक आये।

“अब मैं जा रहा हूँ, आशा। दुःख से लड़ना। मुख से रहने की कोशिश करना। मुझे भूल न जाना।”

आशा की आँखों से आँसू बहने लगे।

“रोओ नहीं आशा, रोओ नहीं! मुझे कष्ट हो रहा है। थो...ह!”

ये अचेत हो गये। उनका शरीर अकड़ने लगा। वह चीख

घर के सामान खोला दीख पड़े। दरवार को इन्होंने खोल दिया।

यह सब देखकर सब लोगें खड़े हुए। सब लोगें ही सब उन्हें कसों ? कभी नहीं, कभी नहीं ! किन्तु प्रतीक ? अन्त में ही प्रतीक ?

राज खोले गये। राजागणवर्गी का द्वार का पट्टियाँ। गंगा-बनान के द्वार। गण खोले गये। आशा घर में रह गई। उतरने की कड़ा मया भा, लेकिन उसने इतना कर दिया था। गहरा एक ओर की हुई एक धीरे-धीरे रही थी।

“घरे की मी ?”

“क्या है, क्या मी ?”

“मेरा एक काम कर दोगी ?”

“क्यों न करूँगी ?”

“मेरे लिए खुदियों ला दो।”

“खुदियों ले कर क्या करोगी, बहुजी ?”

“जल्द से, मुझे।”

“करती बार ही ला दूँगी।”

“ओ खुदियारिन यहाँ जाती है वहाँ के घर जाना। वहसे कहना कि मैंने प्रेमवर्गी खुदियों दो। यह तो कया।”

“अभी जाऊँ या घाल पीसने के बाद ?”

“अभी जाती जाओ, घरे की मी। जीट कर दाक पीसना। तुम्हें इनाम दूँगी। दिमा से यह बात न कहना।

“नहीं, बहुजी, इतनाभार रहने, किसे मे खुद न पहुँचेंगे। मेरी आदत ऐसी नहीं है। ऐसी होता, तो मझे आदमियों के साथ जैसे रिक्ती ?” वह खड़ी गई।

आध घंटे के बाद महीरी वापस आई। खुदियों से आई। ये दरवाही थी। आशा ने उसे इनाम दिया, और फिर लाकड़ की कि इस बात की खबर यह किसी से न करे।

दिन बीता। रात आती। ग्यारह बज गये। काम धंधे से निपट कर आशा अपने कमरे में पहुँची। उसने अपना धागागा धुंध किया, और लेम्प जलाया। फिर वह अपना शंभार करने लगी। बेरा सँभारे, पों में महावर लगाया, हाथों में खुदियों पहिनी, मींग में सिन्दूर भा, चेहरे पर

श्रीम और पाठडर मला, नाखून और घोंठ रेंगे, गहने पहिने, रेशमी साड़ी धारण की, रेशमी जम्बर पहिना, इत्र लगाया, पाग खाया। इस तरह सज-धज कर वह उभर रखे हुए दर्पण के सामने जा खड़ी हुई। 'इस समय परी लग रही हो तुम !' गूँग उठे प्रतार के ये शब्द उसके कानों में। उसका रोम-रोम पुलकायमान हो उठा। यड़ी सावधानी से उसने सेज बिछाई, और उस पर पृञ्ज बिखेरे। फिर एक सन्दूक से पति का एक फोटो निकाल कर वह सेज पर जा बैठी। यह उस चित्र को मंत्रमुग्ध-सी देखने लगी। वह उसे देर तक घेटी देखती रही। उसके चेहरे पर अगणित भाव धाये-गये। सहसा उठ कर उसने एक सन्दूक खोली, और उसमें से कुछ निकाल कर खाया। फिर पति के चित्र को सीने से छिपका कर वह सेज पर लेट गई। उसके आँठों पर अद्भुत मुस्कान नृत्य करने लगी। उसके चेहरे पर विजय-गर्व व्यक्त हो गया।

रात बीती। सवेरा हुआ। दिन चढ़ा।

"छोटी बहू ! छो छोटी बहू !" सास ने आवाज लगाई— "आज सोती ही रहेगी क्या ? खाना कब बनेगा ? आज भी सुदी का दिन है क्या ?"

कोई उत्तर नहीं मिला।

"बाह जी बाह ! देखो तो दोश ! साढ़े सात बज गये, अभी तक सो रही है ! काम में जी ही नहीं लगता।"

"रहने दो, अम्मा जी," मँझली बहू ने कहा— "घाती होंगी।"

"रहने क्या हूँ ? यह लच्छन मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं तो सारा यात करती हूँ, चाहे किसी को अच्छी लगे या बुरी।"

"रोज तो वह सबके ही उठती हैं। देखो, मैं जा कर देखती हूँ कि क्या बात है।"

मँझली बहू आशा के कमरे के सामने पहुँची।

"दुखदिन ! दुखदिन !"

कोई उत्तर नहीं मिला। दरवाजा खटखटाया। कोई नर्तिका नहीं हुआ। उनका माथा ठनका।

"जीजी ! जीजी !"

"क्या है ?"

"ज़रा यहाँ तो आओ। अम्माजी को भी बुझाओ।"

“अच्छा !”

वे दोनों भी चा चहुँधी । फिर आवाजें अगाई गईं । दरवाजा पीटा गया । कोई परिचय नहीं हुआ । तब मर्दाने का दरवाजा ही नहीं ।

मर्दाने काये । दरवाजा तोटा गया । तब लोग खूब रोने लगे । अन्त में पोथी की सोने की अगाई हुए आवाज मन्त्री पत्नी सुसज्जन मैत्र पर पड़ी थी । उसका शोर निर्भीक था । कोहराम मच गया । मर्दाने से सजावट हुई । एक आदमी बुलाया गया । उसने सब की परीक्षा की ।

“कम से कम दूः घंटे पहले मर चुकी है,” आदमी ने र प दी—
“इन्होंने गहरा धा कर आगम-आगम की है ।”

“आगम हुआ कहना तो ठीक न होगा, आदमी साहब,” बाबू सुन्दरदास ने कहा ।

“तब ?”

“हार्ट अटैक कहिये, आदमी साहब ।” दम-दम के कई मोट आदमी के हाथ में देते हुए बाबू साहब ने कहा ।

“बेहतर है,” मोट लोग में रखते हुए आदमी ने उतर लिया—“आपको कोई उल्टा नहीं है । मैं आदमी सर्टिफिकेट दे दूँगा ।”

“क्यों प्रमाण होती ।”

मर्दाने काइर चले गये । रोना-धोना फिर शुरू हो गया ।

“देता जान पड़ता है, जैसे मुरत की भीड़ से रही ही !” आदमी भर कर एक की ने कहा—“पैसी सुन्दरता, मर्दाने जवानी और देता अन्त ! हाथ रें मांग !”

एक घटा भीता । बायीं अन्दर आई ।

“मुझ की माँ !” मर्दाने हुए श्वर में बाबू सुन्दरदास ने कहा—
“यह जिस तरह है उसी तरह उसे अर्धी पर छोड़ो । उसकी कोई चीज न उतारी जाई । यह देवी थी, सती थी !”

“...ने को ...ने ...ने ...ने !”

नहीं। काम ही कर रही थी। कह रही हूँ कि
घात-घात पर बिगड़े बिना तो तुमसे रहा ही

है, और तुम सीधी-सादी हो ?”

पता चञ्चलता। दिन भर काम में लगी रहती
नहीं रहता।”

रहती हो, और मैं खिलता रहता हूँ !”

से घाई, मेरी हिसमत फूट गई !”

करके मैंने भी सख्त राजती की !”

तब क्यों नहीं देते ?”

कहायेगी, तो अभी मज्जा चखा दूँगा।”

भयावह सघाटा छा गया। दोनों मन ही मन अपने
जोसने लगे। पान पति के सामने रख कर, किमी न
कर, लखिता सेनी मे कमरे के बाहर निकल गई।
न खा कर, छड़ी से का, महेश द्रवर चला गया।

साधारण घटना की लाया, हृदय आकार धारण कर,
। बोम्ब की तरह लदी रही। सन्ध्या के समय जब
। लौटा तब भी यह उद्दिष्ट था। उसे देखते ही उनकी
राज्यामी ! कृप्य सुना ?”

हो है !”

रुई मखिनता की लाया हट गई। प्रयत्न होकर
। अभी ?”

भूल पर भूल

महेश चाहता है कि ज्यों ही वह भोजन या नारंग करके उठे, लज्जिता तुरन्त पान पेश करे। लज्जिता पानीय के उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ नहीं है, परसंध्यनिष्ठा का उपेक्षा भी वह नहीं करती। फिर भी जब किसी न किसी कारण, कभी विद्वम्भ हो जाता है और महेश आवे से बाहर होने लगता है, तब युग-युग से प्रताड़ित नारंगर की शपथा भानो उसके व्यक्तित्व के द्वारा विद्रोह का ऋण उँचा कर देती है। उसे समय एक साधारण सी प्रतीत होने वाली घटना भयंकर रूप धारण कर उन दोनों के बीच एक दुर्जेय गड़की रचना कर देती है।

एक पान की ही बात क्या, अनेक पेमों ही मामूली घातें उन दोनों के सम्बन्ध के बन्धन पर निरव ही आघात करती रहती हैं। एक तग दिजड़े में बन्द दो विभिन्न स्वभाव वाले पक्षियों की भीति शान्तिपूर्वक एकसाथ रहने में वे सममर्थ हैं। किन्तु उस कारागार से निकल कर स्वतंत्र हो जाने के लिए जिस भीति की आवश्यकता है, उसका दोनों में अभाव है।

आज की ही बात ले लीजिये। सवेरे जब महेश ने दूक से छुट्टी हुई कमीज़ निकाली थी, तब उसने देखा था कि कई घटन टूट गये हैं। उसी समय लज्जिता से नये घटन लगा देने की उसने साकीद कर दी थी, किन्तु भोजन कर चुकने के बाद जब पहिने के लिए उसने कमीज़ उतारी तब घटन नहीं लगी थी। बस, उसके दिमाग का पारा खटने लगा। एक ओर घटाई पर धैरी हुई लज्जिता पान लगा रही थी। उसकी आर असतोषपूर्ण दृष्टि से देख कर कल्लाई हुई आवाज़ में उसने कहा—
“घटन तुमने अभी तक नहीं लगाये!”

“अभी लगाये देती हूँ।”

“लगाये देती है। यहाँ देर हो रही है, और मुझे कोई तिक्र ही नहीं है। इसीलिए मैंने सवेरे कद दिया था, लेकिन तुम्हारी तो हर काम को टाज़ देने की

यों तो जब कभी उसे कहीं जाना होता था, वह रेलवे-स्टेशन पर ठीक वक्त ही पर पहुँचता था। किन्तु आज वह आध-घण्टा पहले ही स्टेशन पर पहुँच गया। रेलवे-स्टेशन पर मनोरंजन तथा अभ्ययन के सामान का अभाव नहीं रहता; देखने वाली श्रौंखों को वहाँ बहुत-कुछ देखने को मिल जाता है। विद्युत्-प्रकाश से आलोकित प्लेटफार्म पर पूरी चहल-पहल थी। विभिन्न सम्प्रदाय, जाति तथा रंग के यात्री, खोंचेवाले, फेरीवाले, कुली और अपने बदन में चूर धर्मचारी गाड़ी का इन्तज़ार कर रहे थे। किन्तु महेश को मनोरंजन के किसी वाद्य साधन की आवश्यकता नहीं थी। वह तो एक ही चित्र अपने भीतर-बाहर, चारों ओर देख रहा था। और वह चित्र था उसी का, जिसका स्वागत करने के लिये वह इस समय वहाँ उपस्थित था। उस चित्र को ले कर भौंति-भौंति की जो कल्पनायें उसके मस्तिष्क में उठ रही थीं, उन्हीं में वह तल्लीन था।

साँटी देती, भक-भक, भक-भक करती हुई गाड़ी आ पहुँची। अर्ध-चेतना की दशा भंग हो गई। कल्पना-लोक से उसे प्रत्यक्ष जगत में आना पड़ा। चौंक कर, बेंच छोड़ कर, वह उठ खड़ा हुआ। गाड़ी रुकी। सब रुक पड़े। वह भी लपका। कर्ण-कटु शोर मच गया। चढ़ते-उतरते हुए मुसाफ़िरों की रेल-पेल, धकम-धका सहता हुआ वह एक-एक डिब्बा देखने लगा। आगे के सारे डिब्बे देख आया, किन्तु वह दिखाई न दी। तब वह मुड़ कर तेज़ी से पीछे चला। उसे दूर जाना नहीं पड़ा। इंटर के एक डिब्बे के सामने वह खड़ी थी। एक नवयुवक कुली से सामान उतरवा रहा था। वह डिब्बे की ओर देख रही थी। समीप पहुँच कर वह बोला—“माधुरी !”

सिहर कर, मुड़ कर, माधुरी ने उसकी ओर देखा, और हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। उसने भी हाथ जोड़े।

“मझे मैं नहीं ?”

एक क्षण रुक कर, अत्ररुद्ध कण्ठ से वह बोली—“जी...हाँ !”

महेश को ऐसा जान पड़ा, जैसे उससे कोई भारी भूल, कोई भारी अपराध हो गया है। माधुरी के चेहरे की ओर वह ध्यान से देखने लगा।

“श्रीर आप !”

महेश भी हँसने लगा ।

“अच्छा, जाला जी, ज़रा स्टेशन जा कर उसे लिजा लाना ।”

“अच्छा !” मुस्कराता हुआ वह सीढ़ियों की ओर बढ़ा ।

यह था रही है—यही, जिसने यौवन के प्रारम्भ काल में उसके व्यक्तित्व पर अपने व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव छोड़ दिया था । कितने साल बीत गये, कितनी श्रुतियाँ आईं और चली गईं, वह स्वयं भी कितना बदल गया है, किन्तु शान्त रूप और सरल रचना वाली वह माधुरी आज भी उसके हृदय के सर्वोच्च भासन पर आसीन है । उसकी प्रौढ़ता, उसका ज्ञान उसे उस भासन से हटा नहीं सका । वही आज आ रही है ! उसका मन मस्ती में थिरक रहा था मयूर की मूर्ति, जा गगन मण्डल में उमड़ती हुई घटाघों को देख कर, पर फेला कर, मस्ती से नाचने लगता है !

ऊपर अपने कमरे में पहुँच कर उसने देखा, एक कोने में घटाई पर विपाद की मूर्ति बनी हुई खलिता निरचल बैठी हुई है । उपेक्षा का जो भाव मन में लिये हुए वह घर लौटा था, वह अब दूर हो चुका था । कुरसी पर बैठ कर भीठे स्वर में उसने कहा—“मेरी धोती कहाँ है ?”

खलिता निस्तब्ध रही ।

“बदली !”

“जहाँ हो, ले न लो !”

“तुम्हें दे दोगी तो क्या कोई हज़म हो जायगा ?”

“मैं तो कोई काम ही नहीं करती ! फिर मुझमें कोई काम करने को क्यों कहते हो ?”

“मैंने तो यह नहीं कहा था कि तुम कोई काम ही नहीं करती ?”

“तुम हर काम को टालती हो, यह कहने का मतलब क्या है ?”

“इसका मतलब कुछ नहीं है ।”

“कहने के समय जो मन में आता है बक जाते हो, और धाद में कहते हो कि मैंने तो कुछ कहा नहीं था !”

“धरे बाबा, तुम जीती, मैं हारा ! अब तो चुप हो ?”

“मेरी खुशी या नाखुशी से तुम्हें क्या मतलब है ?”

महेश ने कोई उत्तर न दिया । तब खलिता उठी, और दूसरे कमरे से धोती ले आई । कुरसी के हाथ पर धोती रख कर वह फिर घटाई पर जा बैठी । सुख हो गई ।

यों तो जब कभी उसे कहीं जाना होता था, वह रेलवे-स्टेशन पर ठीक वक्त ही पर पहुँचता था। किन्तु आज यह आध-घण्टा पहले ही स्टेशन पर पहुँच गया। रेलवे-स्टेशन पर मनोरंजन तथा अभ्ययन के सामान का अभाव नहीं रहता। देखने वाली औरों को वहाँ बहुत-कुछ देखने को मिल जाता है। विद्युत्-प्रकाश से आलोकित प्लेटफार्म पर पूरी चहल-पहल थी। विभिन्न सम्प्रदाय, जाति तथा रंग के यात्री, रोज़ेवाले, फेरीवाले, कुली और अपने बड़प्पन में चुर कर्मचारी गाड़ी का इन्तज़ार कर रहे थे। किन्तु महेश को मनोरंजन के किसी वाद्य साधन की आवश्यकता नहीं। वह तो एक ही चित्र अपने भीतर-बाहर, चारों ओर देख रहा था। और वह चित्र था उसी का, जिसका स्वागत करने के लिये वह इस समय वहाँ उपस्थित था। उस चित्र को लेकर भौंति-भौंति की जो कल्पनायें उसके मस्तिष्क में उठ रही थीं, उन्हीं में वह तल्लीन था।

सीटी देती, भूक-भूक, भूक-भूक करती हुई गाड़ी आ पहुँची। अर्द्ध-चेतना की दशा भंग हो गई। कल्पना-लोक से उसे प्रत्यक्ष जगत् में आना पड़ा। चौंक कर, बेंच छोड़ कर, वह उठ खड़ा हुआ। गाड़ी रुकी। सब रुकते। वह भी खपका। कर्ण-कटु शोर मच गया। चढ़ते-उतरते हुए मुसाफ़िरों की रेल-पेल, धकम-धका सहना हुआ वह एक-एक डिव्वा देखने लगा। आगे के सारे डिव्बे देख आया, किन्तु वह दिखाई न दी। तब यह मुड़ कर तेज़ी से पीछे चला। उसे दूर जाना नहीं पड़ा। इंटर के एक डिव्बे के सामने वह खड़ी थी। एक नवयुवक कुली से सामान उतरवा रहा था। वह डिव्बे की ओर देख रही था। समीप पहुँच कर वह बोला—“माधुरी !”

सिहर कर, मुड़ कर, माधुरी ने उसकी ओर देखा, और हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। उसने भी हाथ जोड़े।

“मंजो में रहों ?”

एक क्षण रुक कर, अश्रद्ध कण्ठ से वह बोली—“जी...हाँ।”

महेश को ऐसा जान पड़ा, जैसे उससे कोई भारी भूल, कोई भारी अपराध हो गया है। माधुरी के चेहरे की ओर वह ध्यान से देखने लगा।

“और आप ?”

एक शीर्ष निरवास शीघ्र कर, छद्मकृती हुई धाराङ्ग में उतरने
कहा—“किसी...तरह...जाता हूँ।”

“धाराङ्ग काँ ?” नवयुवक ने समीप आ कर कहा।

“बंदगी।”

“यह मेरे देवर हैं,” माधुरी ने परिशय दिया।

“अच्छा ! आप पढ़ते हैं ?”

“जी हाँ।”

“किस इयर में।”

“फर्स्ट इयर में।”

“बकी प्रश्नों की बात है।”

कुली ने सामान उठाया। सब फाटक की ओर चले। धारा निष्पन्न
कर ने एक तौंगे पर सवार हुए। नवयुवक तौंगे वाले के पास में बैठ
गया, महेश माधुरी के। तौंगा चला पड़ा। महेश ने कहा—“धाराङ्ग
माल बीत गये।”

“हाँ।”

“तुम तो यह सब भूल गई होगी ?”

“जो बात असम्भव है, वह सम्भव कैसे हो सकती है ?”

“यह तो ठीक कहती हो।”

सतीश को सौंस खींच कर वह निस्तब्ध हो गया। माधुरी भी
निस्तब्ध बैठी रही।

पथीस मिनट में वे घर पहुँच गये। मित्रने-भैरने की मददपूर्ण
क्रिया आरम्भ हुई। थोड़ी देर में जब सब शान्त हो कर बैठ गईं, तब
महेश ने कहा—“देखो, भाभी, प्रैरियत से जिया लाया न ?”

“घन्यपाद ! मैं तो डर रही थी कि इसे खे कर कहीं.....”

“हरादा तो था, भाभी.”

“किर क्यों खूक गये ?”

“मुम्हारे डर से।”

सुमित्रा हँस पड़ी। वह भी हँसने लगा। माधुरी मुस्कराई। कलित्त
को यह दिस्तगी पसन्द नहीं आई। महेश ऊपर चला गया।

(२)

ऊपर अपने कमरे में पहुँच कर, सिगरेट जला कर, धारामकुसी पर
बैठ कर, वह उसी मज़ाक की बात सोचने लगा। भाभी की पीठ खड़े

मौके की थी, लेकिन उसके जवाब में वह बात नहीं थी। हाज़िर-जवाबी हर आदमी में कहीं होती है? शायद यह भी एक ईश्वरीय देन है। कैसी शक्ति है इस गुण में! कमरे में आ कर ललिता पति के उत्कृष्ट मुखमण्डल की ओर गम्भीर भाव से देखने लगी। दो-तीन क्षणों में जब उसे उसके आगमन का ज्ञान हुआ तब महेश ने मुस्कराती हुई आँखों से उसकी ओर देखा।

“आज तो ऐसे खुश हो, जैसे कहीं गदा हुआ राजाना पा गये हो!”

घोट खा कर, गम्भीर हो कर, ललिता के चेहरे की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देख कर, वह बोला—“इसका मतलब?”

“इसका मतलब क्या तुम नहीं समझते?”

“तुम्हारा इशारा माधुरी की तरफ है न?”

“हाँ, हाँ, उसी की तरफ है, जिसकी तारीफ करते तुम्हारी ज़बान नहीं चकती।”

“जो तारीफ के ल्यापक है उसकी तारीफ करनी ही पड़ती है।”

“सारा ज़माना तारीफ के ल्यापक है। अगर कोई नहीं है तो वह मैं हूँ।”

“तुम तारीफ के ल्यापक नहीं हो, इसका एक खत तो यही है कि तुम एक ऐसी स्त्री से ढाह करती हो, जिसे तुम अभी नहीं जानती।”

“इसमें क्या शक है! मैं नाजायक हूँ, मैं ढाह करती हूँ, मरु में सारे संसार के अवगुण भरे हैं! फिर जब मैं ऐसी बुरी हूँ, तब मेरे साथ शादी करने की क्या ज़रूरत थी?”

“यह मेरे बश की बात नहीं थी।”

“तब जो बात तुम्हारे बश की हो, उसे अब कर डालो।”

“बस, प्रामोश रहो!”

क्रोध से कौपती हुई ललिता तेज़ी से कमरे के बाहर चली गई। नया सिगरेट जला कर महेश कश पर कश खींचने लगा। एक भगदा समाप्त होते ही दूसरा आरम्भ हो गया। इस तरह कैसे काम चलेगा? निरय की इस कुदम, इस जलन का कहीं अन्त होगा? जिन स्त्री में सद्गुणशीलता का ऐसा अभाव है, उसके साथ किम तरह निर्वाह किया जायगा? गहन वेदना उसके मन में उमड़ पड़ी।

ग्यारह साढ़ पड़ने की स्मृतियाँ जाग पड़ीं। एक दृश्य सामने

साया । शुभिया के साथे मे वरमा जाने की गृहणा या कर यह सोच गया । राजा में शर्मा हुई शुभिया बापू उगार रही थीं, की उसके समीप आई थी एक नवयुवती । की गृहणाएँ एहि में महेरा मे नवयुवती की और देखा । नवयुवती मे एक बार जगदीश और देखा कर गिर मुझ लिया ।

“नमस्ते, भाभी !” महेरा मे गर्मान या कर कहा ।

“नमस्ते !” हुए कर शुभिया मे जगार दिया । जगने कहा—“देवी, लाजागी, तुम्हारे लिए दुःखदिन जाई हूँ !”

और कर नवयुवती दीपार की और देखने लगी । गिर मुझ कर महेरा मुझराये जगार ।

“तुम्हें प्यन्द है ?”

“जय तुम प्यन्द करके छाई हो, तब तुम्हें भाग्यन्द कैते हो सकती है ?”

“तो हृदये साथ शारी करोगे ?”

“क्यों न करूँगा ?”

“बचन दे रहे हो, लाजा, पीये इनकार न कर जाना ।”

“हृदय करके लाजा भागी में नहीं हूँ !”

“बस, शीघ्र है । माधुरी ! तू भी तो हृदय देन छे । हृदये के साथने इनका लगाने मे काम न चलेगा !”

माधुरी निमट कर दीवार मे धिरक गई । शुभिया हँसने लगी । महेरा भी मुझराये जगार ।

इन तरह देवी-देवी में किया गया यह प्रणय महेरा के दिल में धर कर गया । उसी दिन एकान्त में यह माधुरी से मिला । माधुरी भी उससे मिलने के लिए कम कामुक न थी । बोरी ही देर में दोनों पूज-मिल गये । तब उसने कहा—“मेरे साथ शारी करोगे, माधुरी ?”

“यह क्या गीरे घरा की बात है ?”

“किन्तु यदि यह तुम्हारे वरा की बात होगी, तो ?”

“तो मैं क्यों इनकार करती ?”

प्रणय के इस आश्वासन से उये किन्ता सगोच प्राप्त हुआ था । दिन-प्रति दिन एक-दूसरे के प्रति दोनों की सामन्ति बढ़ती गई । माधुरी को महेरा में शीघ्र पुत्र का दर्शन प्राप्त होना था, और महेरा को माधुरी में प्र.दर्श नहीं का । उन दोनों के पारस्परिक भावों से बहुत

सुमित्रा अनभिज्ञ न थी। भविष्य के विचार से छेड़ी हुई अपनी 'स्कॉम' को सफल होती देख कर वह अत्यन्त प्रसन्न थी। धन्य में विदाई-जुदाई का दुर्दिन था ही पहुँचा। अनिर्वचनीय मनोभ्यसा के धाँसू यहा कर, एक-दूमरे को पत्र लिखने का वचन दे कर, दोनों जुदा हुए। माधुरी अपने घर चली गई। महेश के दुःख का पारावार न था। कई दिनों के बाद जब उसे माधुरी का प्रथम पत्र प्राप्त हुआ, तब उसे कुछ शान्ति मिली। उसने भी तुरन्त उत्तर दिया। पत्र-व्यवहार जारी रहा।

दो मास के बाद माधुरी के पिता ने महेश के पिता को पत्र लिख कर माधुरी के साथ महेश के विवाह का प्रस्ताव किया। पूरी तरह आँध-पड़ताल करके, महेश के पिता ने माधुरी के पिता को लिखा—“आपकी लड़की के साथ अपने लड़के की शादी करने में मुझे कोई उज्र नहीं है, लेकिन आप यह तो लिखिए कि आप कितना दैंगे।” माधुरी के पिता ने धन्यवाद दे कर पूछा कि वे कितना लेंगे। महेश के पिता ने तीन हजार माँगे। माधुरी के पिता दो हजार देने को राज़ी हुए। महेश के पिता इतने पर राज़ी नहीं हुए। माधुरी के पिता ने अधिक देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। महेश के पिता ने लिखा—“जितना कह चुका हूँ, उससे कम न लूँगा। आपने क्रिगूल मेरा और अपना समय नष्ट किया।” माधुरी के पिता ने उत्तर दिया—“मैं नहीं जानता था कि जनाब का वक्त इतना कौमती है, यहाँ उसे नष्ट करने का हर्गिज साहस न करता! क्या रुपया-पैसा ही सब कुछ है, इंसानियत, मुरीबत कोई चीज़ नहीं?” यत, दो-एक कड़े झत और भाये-गये, और प्रस्ताव रद्द हो गया। महेश और माधुरी के ऊपर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। महेश ने माधुरी को लिखा—“पिता जी बड़े जिहो आदमी हैं। और, वे नहीं मानते तो न मानें। मुझे इसकी परवाह नहीं है। मेरी राय तो यह है कि हम दोनों कहीं निकल चलें। इतने बड़े संसार में हमें कहीं न कहीं आश्रय अवश्य मिल जायगा। बोलो, माधुरी, तुम में साहस है?” माधुरी ने उत्तर दिया—“आपका प्रस्ताव तो विष्कूल ठीक है, किन्तु आप पुरुष हैं, और मैं स्त्री हूँ। समाज में स्त्री की स्थिति पुरुष से भिन्न होती है। पुरुष को हमारा समाज आसानी से मार कर देता है, किन्तु स्त्री के प्रति ऐसी उदारता दिखाना उचित नहीं समझता। समाज की उपेक्षा और निन्दा सहन कर सकने की शक्ति मैं अपने में नहीं पाती। फिर, हमारे उस कृत्य के कारण हमारे कुटुम्बवालों को जिस विकट अपमान का सामना करना

पड़ेगा, उसकी बाल्यना करती हूँ, तो जो पहरा जाता है। चादके बिना मुझे भी सारा संसार सूना दिखाई देता है, किन्तु यदि मेरे माथ में दुःख भेकना बड़ा है, तो मुझे उसे शान्तिपूर्वक भेकना चाहिए। चाप ध्वज मुझे भुजकाने की कोशिश कीजिए। मैं भी आपको भुजकाने का प्रयत्न करूँगी।" यह पत्र जब महेश को मिला, तो उसकी रही मही भाशा भी जाती रही। माथुरी को उसने फिर कोई पत्र नहीं लिखा। धीरे-धीरे माथुरी के आदेश के अविषय को उसे स्वीकार करना पड़ा। ज्यों-ज्यों समय बीगने लगा, उसकी मनोवेदना का भार भी हलका होने लगा।

महेश इ
उसे बु
पहुँची।

यह नीरस, शुष्क, उदरग्न जीवन ! यह 'अनधातु को संग !' क्या रचना है ऐसे जीवन में ? किन्तु यदि माथुरी उस समय उसके प्रस्ताव का विरोध न करती, उसमें सहमत हो जाती, तो कैसा सुन्दर होता यह जीवन—शैल-शिवर की भक्ति वध, गंगा-जल की भक्ति पवित्र ! समाज सर्व्व तो उस दोनों की उपेक्षा कर न सकता।

"माथुरी !" कमरे में आ कर नीकर ने कहा।

"क्या है ?"

"खाना खाने जलिये।"

"जा कर कह दो कि इस वक्त मैं खाना न खाऊँगी।"

"बहुत अच्छा।" नीकर चला गया।

"बहुत फिर विचारों में मग्न हो गया। दो मिनट के बाद सुमित्रा ने कमरे में प्रवेश किया।

"खाना खाने जलो, लाखा।"

"मैं इस वक्त नहीं खाऊँगी।"

"क्यों ?"

"तबीअत ठीक नहीं है।"

"तबीअत ठीक नहीं है, या और कोई बात है ?"

यह निस्ताब्ध रहा।

"मैं पहले ही समझ गई थी। इस वक्त क्यों मरना हुआ ?"

“एक बेमताजय की यात पर । उसका मिजाज ऐसा खराब है कि मैं तो हैरान हो गया हूँ ।”

“तो क्या तुम्हारे भोजन न करने से उसका मिजाज ठीक हो जायगा ?”

“नहीं ।”

“तुम समझदार हो, वह नासमझ है । मौके पर थोड़ी डाँट-फटकार और धाव में समझाने-बुझाने से ही यह सुधर सकता है । ज़द कर, रूठ जाने से यह काम नहीं हो सकता ।”

“क्या मैं समझाता बुझाता नहीं ? लेकिन उसके दिमाग में तो कूड़ा भरा है ।”

“कूड़े को देख कर झुलाने से तो वह साज़ नहीं हो सकता ! सत्र से छुट कर साज़ करने से ही वह साज़ हो सकता है । उठो, चलो ।”

महेश उठ कर सुमित्रा के साथ नीचे चला गया ।

(३)

दूसरे दिन की बात है । सबेरे का समय था । आरामकुरसी पर लेटा हुआ महेश समाचार-पत्र पढ़ रहा था । माधुरी ने कमरे में प्रवेश किया । उसे देख कर महेश उठ बैठा ।

“आओ, बैठो !”

माधुरी चटाई की ओर बढ़ी ।

“नहीं, नहीं, इस पर बैठो,” एक कुरसी की ओर संकेत करके वह बोला ।

माधुरी कुरसी पर बैठ गई ।

“बहिन कहाँ हैं ?”

“नीचे होंगी ।” उसके माथे पर सिकुहन पड़ गई ।

महेश के चेहरे की ओर देख कर माधुरी ने कहा—“उन से आपकी नहीं पटती क्या ?”

“नहीं । तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?”

“दीदी कहती थी ।”

“ऐसी बदमिजाज औरत से किसी की नहीं पट सकती ।”

माधुरी निस्तब्ध रही ।

“कल की ही यात जे जो । जनती हो, कल रात को क्यों झगड़ा हुआ था ?”

माधुरी ने उसके चेहरे की ओर प्रश्नमूचक दृष्टि में देखा ।

“इसलिए कि मैं तुम्हारे आने से प्यार था !”

अप्रसन्नता की छाया माधुरी के मुखमण्डल पर छाई और वह गहरे । कई क्षणों तक चुप रह कर यह बोली—“अपनी दुखी थाप ?”

“अपनी दुखी की कोई बात मैंने उससे नहीं कही थी ।”

“तो आपके चेहरे ने कह दिया होगा ।”

“मुझे शूरा देख कर उसे चिन्ने की तो गहरत न थी ?”

“उनका माधुरी होना बिलकुल स्वाभाविक था !”

“क्यों ?”

“इसलिए कि कोई भी यह नहीं चाहती कि उसका मर्द किसी दूसरी स्त्री को देख कर प्यार हो !”

गम्भीर दृष्टि से वह उसके चेहरे की ओर देखने लगा । कितनी उदार-हृदया है माधुरी !

“एक बात पूछें, माधुरी ?”

“यदि ।”

“तुम यहाँ क्यों आई हो ?”

“सच कह दूँ ?”

“बिलकुल सच ।”

“आपको एक बार देखने के लिए !”

“धन्यवाद !”

“क्या देखा तुमने ?”

“देख रही हूँ कि आप बहुत दुःखी हैं ।”

“और तुम ?”

“जब मशीन की तरह शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी करने की यदि मुझ कह सकते हैं, तो मैं सुखी हूँ ! किन्तु वास्तव में क्या यह सुख है ?”

दोनों कई क्षणों तक छोमे हुए से बैठे रहे ।

“माधुरी !”

“जी हाँ ।”

“एक बात मैं थककर सोचना हूँ ।”

“कौन सी बात ?”

“वही कि यदि आज से ग्यारह साल पहले तुमने मेरे उस प्रस्ताव

का विरोध न किया होता, तो कदाचित् हमारे जीवन की धारों एक दो कर सुख के निस्सीम मार्ग पर बढ़ती होती !”

“यह तो मैं मानती हूँ कि उस समय मुझसे भयङ्कर भूल हो गई थी ।”

“यह भी जानती हो कि हमारी कठिनाइयाँ कैसे हल हो सकती हैं ?”

“जानती हूँ ।”

“कैसे ?”

“आपके उसी प्रस्ताव से ।”

“तब क्या कहती हो, माधुरी ?”

“आपके प्रश्न का उत्तर आसानी से नहीं दिया जा सकता ।”

“क्यों ?”

“इसलिये कि हम दोनों के बीच में दो अन्य व्यक्ति था गये हैं ।”

“तब ?”

“विचार करने के लिये समय चाहिए ।”

“कब तक जवाब दे सकोगी ?”

“कल तक ।”

“अच्छी बात है, विचार कर लो । मैं तो बहुत विचार कर चुका हूँ, और पूरी तरह तैयार हूँ ।”

“अच्छा, अब जाती हूँ ।”

“जाओ ।”

माधुरी की दशा उस समय उस भटके हुए पथिक की-सी हो गई थी, जो अन्धकार में मार्ग खोज रहा हो !

सन्ध्या के समय दफ्तर से घर लौट कर जब महेश अपने कमरे में पहुँचा, तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ । ललिता बेहद खुरा थी । पति के हाथ से छड़ी ले कर बेड़ी से कोने में रख कर, वह धोती खे आई । महेश उसकी ओर प्रश्न-मूचक दृष्टि से देखता रहा । जब वह धोती पहिनने लगा, तो ललिता ने मुस्करा कर कहा—“बड़ी अच्छी खी है, माधुरी !”

“यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?”

“आज दोपहर में बड़ी देर तक यह मुझ से बातें करती रही । उसके विचार बढ़े ऊँचे हैं । मैंने उसके चारे में जो कुछ सोचा था वह बिबलकुल शकित था ।”

“सब घातों को अच्छी तरह लौखने के बाद किमी के बारे में
प्रायम करना चाहिए।”

“ठीक कहते हो।”

दूसरे दिन सवेरे फिर माधुरी उस कमरे में आई। उसका चे-
वतरा हुआ था, आँखें जाल थीं। नहेय ने चिन्तित स्वर में पूछा-
“तबीबत प्रराध है क्या?”

“नहीं,” कुरसी पर बैठ कर उसने कहा।

“तब क्या रात में घेर तक जागती रही?”

“रात भर जागती रही।”

“क्यों?”

“विचार करती रही। इस समय आपको उत्तर देने आई हूँ।”

“सैयार हो?”

“नहीं।”

“क्यों?”

“इसलिए कि दो बत्तें हुए घरों में घाग जगा देना मैं उचित नहीं
समझती।”

“माधुरी! माधुरी!”

“उस समय हमारा अपराध समा करने में योग्य होता, किन्तु
अब तो वह अक्षय्य हो जायगा।”

“आज फिर भारी मूख कर रही हो, माधुरी!”

“जानती हूँ कि मूख कर रही हूँ, और इसके लिए हम दोनों को
भारी मूल्य चुकाना होगा।”

“मैं क्या कहूँ?”

“पत्थर के बन जाओ।”

“माधुरी, इस हाट-मांस के शरीर में एक दिज भी तो आन्दोलन कर
रहा है?”

“अभ्यास से वह भी काबू में आ जायगा ।”

“और तुम क्या करोगी ?”

“किसी न किसी तरह दिन कट ही जायेंगे ।”

“माधुरी ! माधुरी !”

प्रबल वेग से आँसुओं में आते-हुए आँसुओं को रोकती हुई वठ कर वह तेज़ी से कमरे के बाहर चली गई । महेश ने हाथों में मुँह छिपा लिया । अकथनीय वेदना उसके हृदय में हाहाकार कर रही थी ।

सन्ध्या के समय जब वह दफ़्तर से वापस आया, तब सुमित्रा ने कहा—“माधुरी तो चली गई, लाजा ।”

“चली गई ! कहाँ ?”

“मायके ।”

“क्यों ?”

“कहती थी कि जो धबरा रहा है, जाऊँगी । मैंने बहुत रोका, लेकिन वह नहीं मानी ।”

“कब गई ?”

“बीस मिनट हुए होंगे ।”

तुरन्त मुड़ कर महेश तेज़ी से सदर दरवाज़े की ओर चला ।

“कहाँ जाते हो, लाजा ?”

“अभी आता हूँ ।” दो चय में वह गली में था ।

सड़क पर पहुँच कर एक इक्के पर सवार हो कर उसने इक्केवाले से कहा—“तेज़ी से स्टेशन चलो ।”

“कौन टिकन चल्, बाबू जी ? कछपुरवा ?”

“हाँ । जल्दी चलो ।”

इक्का तेज़ी से चल पड़ा ।

स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर पहुँच कर महेश ने देखा, माधुरी एक धोर अपने ट्रंक पर बैठी है, और उसके देवर अमरनाथ पास ही खड़ा है ।

समीप पहुँच कर अमरनाथ को इकट्ठी दे कर उतने कहा—“हरा पान लो ले खाइए, वाम् अमरनाथ ।”

“बहुत अच्छे !” अमरनाथ पान खाने चला गया ।

“जा रही हो, माथुरी ?”

“हाँ ।”

“क्यों ?”

“मैं, कर गई !”

“शुभे से ?”

“आपसे अधिक अपने से !”

“कब कब आओगी ?”

“जब आप मुझे यह दिखेंगे कि अपने दिल पर आपने पूरी तरह क्रायू पा लिया है !”

“अच्छी बात है, यही सही !”

अमरनाथ पान ख कर आ गया । गाड़ी भी आ गई । गाड़ी पर सवार हो कर, हाथ जाक कर, माथुरी ने कहा—“बस माँगती हूँ !”

“बस ! तुमने कौन-सा अपराध किया है, माथुरी ?”

मुख मोड़ कर माथुरी रुमाऊ से अपनी आँखों पोंछने लगी ।

गाड़ी चल पड़ी । महेश की आँखों से आँसुओं की खदियाँ वह निवर्त्ती ।

अनुराग

ललित से कमला डरती थी, किन्तु उसका आदर करती थी। आदर ही नहीं, वह उसे प्यार भी करती थी। इसी प्यार ने तो एक दिन उससे कहा था, 'ललित को पाने के लिए सारे संसार की अवहेलना करने से तुम्हें कोई पाप न लगेगा।' जब एकाएक उसका सुहाग लुप्त गया, तो अनेक स्वजातीय विधुर बैठकी के प्रस्ताव ले कर उसके पास आये; किन्तु वह किसी को स्वीकृति न दे सकी। एक दिन विजातीय ललित भी आया, मानो भक्त के घर भगवान् ने पदार्पण किया। कमला आनन्द से विभोर हो गयी। ललित ने मुस्करा कर पूछा—“मेरी हो सकती हो, कमला?”

सिर मुका कर, मुस्करा कर, कमला ने तुरन्त उत्तर दिया—“क्यों नहीं?”

“लेकिन जानती हो, विरादरी से यादर कर दी जाओगी?”

“विरादता गलती करे, तो क्या मैं भी करूँ? नहीं, मुझ से यह न होगा। आपकी क्या कम बदनामी होगी?”

“मैं तो तुम्हें चाहता हूँ, दुनिया की नेकनामी मुझे नहीं चाहिए!”

यस, उसी दिन कमला ललित के घर जा बसी। लोगों ने सुना और चकित रह गये। फिर सारे समाज का क्रोध, भौंति-भौंति के रूप धारण कर, दोनों के ऊपर बरसने लगा। कमला के घर वालों ने नाबलिग दायर की। उन लोगों ने कहा, 'ललित ने कमला को बहकाने और भगाने के जुर्म किये हैं, और कमला नाबलिग है।' ललित ने कहा, 'कमला मेरे पास स्वेच्छा से आयी है। वह नाबलिग नहीं है, और मैंने उसे बहकाने और भगाने के जुर्म नहीं किये।' कमला ने कहा, 'ललित के पास मैं स्वेच्छा से आयी हूँ। मैं नाबलिग नहीं हूँ, और ललित ने मुझे बहकाने और भगाने के जुर्म नहीं किये।' डाक्टर ने कहा, 'कमला नाबलिग नहीं है।' अन्य गवाह पेश हुए। वकीलों को चोंचें लड़ीं। अदालत ने फैसला किया, 'कमला बालिग है। किसी के पास जाने के लिये वह स्वतन्त्र है। कमला को बहकाने और भगाने के जुर्म ललित

पर शापित नहीं हुए। वह बरी किया गया।' ऊपर की घटाओं में
 अज्ञान का फैलाव बढ़ाया गया। किन्तु कमला के आशानों में
 खलित क. योदा नहीं छोड़ा। सँजत एक एक में मौदर था। तब
 आकर, उसने कोशिका को, बदली हा गयी। कमला को खे कर वह एक
 दूर के शहर को चला गया। कमला के घर बाघे हार कर पैठ गये।

गये शहर में कोई पुत्र करने वाला न था। दोनों आनन्द-सागर में
 किन्नोरें करने लगे।

धर्म पर धर्म आये और धर्म गये।

दोनों लड़के भागते थे, लेकिन एक-दूसरे पर जान देने थे। आदर्श
 दुर्गति की यात्रा करने पर लोग उन दोनों की मियात्र दी थी। दोनों
 का एक छोटा-सा समार था। अतुराज बरी रम गये थे। तूफान भी
 आते थे, किन्तु उसकी रमणीयता मष्ट करने में अमर्ष होकर चले
 जाते थे। जीवन उसके कण-कण में मस्ती से भिरकता था। आशानों
 पूजनी पञ्जनी थी। सुख का प्रकाश कभी कभी दुःख की घटाओं में द्विर
 जाता था, किन्तु धर्म का दटना ही पदता था।

प्रातःकाल का समय था। आरामपुरी पर खंडा हुआ खलित हुआ
 गुणगुण रहा था। महरा कमरे में प्रवेश करके कमला ने कहा—“कोई
 साज पायचामा नहीं है। आस क्या पहिन कर जाओगे ?”

“दीव तरह देना था ?”

“सारे ड्रैब दस्त टाखे। एक भी नहीं है।”

“इस समय धोविन आ जाती, ता बहुत अन्धा होगा।”

“धोविन आठ दिन से पहले नहीं आती। आज एटवों दिन है।
 हम समय वह कैसे आ जायगा ?”

“यह तो तुम ठीक कहती हो। पर, आन धोता ही पहिन कर
 उतर चला जाऊँगा।”

“इतने दिनों से कह रही हूँ कि कपड़ा खरीद कर पापजामें सिद्धवा
 खो, लेकिन तुम तो आज-कल मरी काई पात हा नहीं सुनते।”

इस उलाहने में उसके लिये जो क्रिक थी, उसे उसने पसन्द किया,
 किन्तु कमला के मुख से अश्लील प्रतिक्रिया आलीचना सुनना उसे सरत
 नापसन्द था। सरत पैदा हो गयी। वह जोर से हुका गुणगुणने लगा।
 कमला कमरे से बाहर हो गयी।

साढ़े नौ बज चुके थे। स्नान करके जलित भोजन करने के लिये तैयार बैठा था, किन्तु खाना अभी तैयार न था। छत्रक रोप में परिणत हो रही थी। उठ कर, कमरे में टहल कर, बाहर निकल कर, उस ओर जा कर उसने रसोई-घर में प्रवेश किया। कमला चाटा गूँध रही थी।

“अभी नक़्खाना तैयार नहीं हुआ ?”

“अभी तैयार हुआ जाता है।”

“क्या ग्यारह बजे दफ़्तर जाऊँगा ? न जाने कौन-सा पकवान बना रही हो कि अभी तक...।”

“देर हो गयी, तो क्या करूँ ? सबेरे से इसी में लगी हूँ।”

“देर होगी, तो तुम्हारा क्या बिगड़ेगा ? आक़त तो मेरे पिर पर आयेगी।”

“कौन ऐसी आक़त था जायगी ? बहुत होगा, शरहज़ीर कर दिये जाओगे।”

“जबान लड़ाना कोई तुममे सीखे। जितना बकर्ता हो, उतना ही काम भी करो, तो ऐसी नौबत क्यों आये ?”

“हाँ, हाँ, मैं तो पक्की इई हूँ। जरा-सी बात के लिए जान खाये जा रहे हैं। गोथा में पैठी हूँ।” उसका गला भर्रा गया। आँसू को वूँदें आँसू से निकल कर गालों पर टुकटुकने लगीं।

जलित क्रोध से उबलता हुआ कमरे से बाहर हो गया।

दस मिनट में दफ़्तर जाने के लिए तैयार हो कर, वह अपने कमरे से बाहर निकला। जूतों की आवाज़ सुन कर, रसोई-घर से बाहर निकल कर कमला ने देखा, वह सीढ़ियों पर था।

“बिना खाये चले जाओगे क्या ? रुको, रुको ! खाना तैयार है।”

किन्तु बिना कोई उत्तर दिये, वह तेज़ी से नीचे उतर गया। वह दौड़ा, लेकिन उसे रोक नहीं सकी। वह घर से बाहर हो गया। तब रसोई-घर में छीट कर, उसने चूबूँ में पानी ढाल दिया। फिर शयनागार में जा कर वह अपने बिस्तर पर गिर पड़ी। अब खाना बना कर क्या होगा ? बिगड़ गये तो बिगड़ गये ! कितनी घुरी है उनकी आदत ! कितने बुद्धिमान हैं, किन्तु जब क्रोध था जाता है, तो उनकी दशा बिलकुल बच्चों की-सी हो जाती है। उस समय उनकी दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता। कोई दूसरी स्त्री होती, तो पता चलता। एक न्याहा भी तो थी, लेकिन अब तक उसके फूँदपन की, पदमिजाजी

हों, मुस्ता की गिकायत करते हैं। एक ब्रह्म है कि पैर धो धो कर पीठ है। फिर भी मच ही जाती है हाथ लोथा।

सेविका मनकी आयी, और रसोई घर में गयी। उसका भाया ठनका। तब वह शयनागार में गयी। कमला आँखें बन्द किये पड़ी थी। साइम करके यह बोली—“बहूजा !”

कमला ने आँखें खोलीं।

“कैसा जी है, बहू जी ?”

“खाना उठा ले जा, ननकी !”

“आप न खायेंगी क्या ?”

“नहीं !”

“क्यों, बहूजी ?”

“जा यहाँ से। किञ्चल बक बक मत कर।”

सहम कर ननकी चली गयी।

डाई बजे छलित घर खोटा। अपने कमरे में जा कर वह आराम-कुहरी पर बैठ गया, और कराहने लगा। रह रह कर छींकें आ रही थीं। कमला आयी, और आशकापूर्ण दृष्टि से पति के चेहरे की ओर ताकने लगी। मुख फेर कर वह दीवार की ओर भाकने लगा। कराहना उसने बन्द कर दिया।

“कैसी तबीयत है ?”

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। कई छींकें एक साथ आयीं। उसे उठ बैठना पड़ा। रुमाख निकालने के लिए उसने शेरवानी की जेब में हाथ डाला। कमला ने झुक कर उसके मथे पर हाथ रखा।

“माप रे ! तुम्हें तो बड़े जोर का बुखार है। उठो, चल कर बिस्तर पर लेटो। उठो, उठो !”

विचर हो कर वह उठा। उसका हाथ पकड़ कर वह उसे शयनागार में लिवा ले गयी। उसके बिस्तर पर उसे आराम से बेटा कर, ब्रह्म बाहर निकली।

“रामदीन ! रामदीन !”

“क्या है, बहूजी ?” नीचे से सेवक ने उत्तर दिया।

“जल्दी ऊपर आओ।”

“अच्छा, बहूजी !”

रामदीन दौड़ता हुआ आया।

“फौरन डाक्टर साहब के पास जाओ, और उन्हें अपने साथ लिवा लाओ।”

रामदीन नीचे भागा।

डाक्टर साहब आये, परोचा की, नुस्खा लिखा, फीस ली, और चले गये। दवाखाने से दवाइयाँ आयीं। इलाज शुरू हो गया।

बिस्तर के समीप कुरसी पर बैठे हुई कमला ललित के मरथे पर ‘बाम’ मल रही थी।

“कमला !”

“हाँ।”

“आज तुमने खाना नहीं खाया !”

कमला निस्तब्ध रही।

“ननकी से मैंने खाना बनाने के लिए कह दिया है। दर्द बहुत कम हो गया, अब रहने दो। जा कर खाना खा लो।”

कमला चुपचाप दवा मलती रही।

“जाओ, कमला।”

“नहीं, मैं खाना न खाऊँगी।”

“क्यों ?”

“तुम भूखे रहो, और मैं खाना खाऊँ ! मुझ से यह नहीं हो सकता।”

“भूखा तो मैं नहीं रहूँगा। दूध तो मुझे पीना ही पड़ेगा।”

“दूध पीने से क्या होता है ?”

“न जाने कै दिन तक मुझे खाना न मिलेगा। तब तक क्या भूखी हो रहोगी, कमला ?”

“भूखी क्यों रहूँगी ? जो कुछ तुम खाओगे, वही मैं भी खाऊँगी।”

“कमला ! आज मैंने जानवर का-सा बर्ताव किया था। मैं आग में लल रहा हूँ !”

“कैसी बातें करते हो ? कसूर तो मेरा था।”

“कसूर तुम्हारा था ! नहीं, कमला, जो आदमी अपने सुन्दर छिपे हुए जानवर की कायू में नहीं रख सकता, वह आदमी नहीं है !”

“ऐसी बातें न करो। तभीयत क्यादा खराब हो जायगी।”

“जब तक खाना न खाओगे, मेरा मन शान्त नहीं होगा। उठो, जाओ।”

तब, धीरे से उठ कर कमला कमरे के बाहर चली गयीं। अज्ञान के शक्ति की सौत ली।

(२)

सामान्य उमर निगोबिया में परिचय हो गया। कमला के दुःख का पारावार न था।

दवायि बदली, डाक्टर भी बदले, लेकिन रोग काबू में न आया। दिन प्रति दिन रोगी का दशा बिगड़ती ही गयी।

मलबकाज था उपरिधन हुआ। भयङ्कर अन्धकार के घड़ में घड़ाय विलीन होने लगा। वह सवार हाडाकार कर उठा।

रात ही गयी थी। येदना की भूर्ति बनो हुई कमला अज्ञान के सीने पर 'आयराभेयट' मल रही थी। अज्ञान धौले बन्द किये पदा था।

"बस रहने दो, कमला," धौले खौल कर अज्ञान ने कहा।

"दर्द अब कैसा है ?"

"बहुत कम हो गया है।"

"लाधो, पीठ पर भी मल दूँ।"

"मल दो।"

उसने करपट बदली। वह पीठ पर धौर-धौर दवा मलने लगी।

"कमला !"

"हाँ।"

"दवा का समय निकट था रहा है।"

"कब ठीक होगी ?"

"सिर्फ धो मर्हाने बाकी है। गिफ्ट तुम ने कहीं रखा है ?"

"शायद बराबनुमवाले सन्दूक में।"

"कल खोल कर देख लेना कि उसमें है कि नहीं।"

"अच्छा।"

"तुम्हे ऐसा जाम पड़ता है कि हम साल मेरी जीत जरूर होगी।"

"देखो, दम्मीद तो हर साल ही रहती है; लेकिन, जब जीत हो नय तो।"

"नहीं, कमला, हम साल में जरूर जीतूंगा।"

"इस से अच्छी बात और क्या हो सकती ?"

"कहीं एक अज्ञान इनाम मिल गया, तो जिन्दगी सफल हो जायगी। एक अच्छा सा बगला बनवा लूँगा, मोटर खरीद लूँगा, बहुत

से नीकर रख लूँगा, कोई तिजारत शुरू कर दूँगा। दिन-रात चैन ही चैन रहेगा !”

“ज्यादा बात न करो। डाक्टर ने मना किया है।”

“तुम्हारे लिए गहनों के ढेर लगा दूँगा—एक सेट सोने के गहने, एक सेट मोतियों के, एक सेट जवाहरात के। सैकड़ों साड़ियाँ खरीदूँगा, सैकड़ों जम्पर, और जूते, और लेवेसडर, और क्रॉम, और रूग, और लिप-स्टिक, और कहीं तक गिनाऊँ। सच कहता हूँ, कमला, तुम्हें रानी बना दूँगा, रानी !”

“इस समय भी मैं अपने को किसी रानी से कम नहीं समझती !”

“थाज तुम समझती हो, उस समय सचमुच हो जाओगी !”

“अपने लिए क्या-क्या खरीदोगे ?”

“अपने लिए ? क्या बताऊँ ? वस, तुम इतना समझ लो कि एक ‘अप-टु-डेट’ सभ्य पुरुष के लिए जिन चीजों की जरूरत होती है, वे सभी चीजें ढेरों खरीदूँगा !”

“लेकिन यह सब ठाट-बाट बना कर क्या होगा ?”

“क्या होगा, कमला ! क्या तुम नहीं जानती कि जिस आदमी के पास धन है और जो ठाट-बाट से रहता है, दुनिया में हर जगह उसकी श्रावभगत होती है ?”

“जानती हूँ, लेकिन अपने से, ज्यादा दूसरों का ख्याल रखना चाहिए !”

“यह मैं कब कहता हूँ कि दूसरों का ख्याल नहीं रखूँगा ? जो खोल कर दान करूँगा। लेकिन मन्दिरों के महन्तों को दान नहीं दूँगा, उन लोगों को दूँगा, जिन्हें सचमुच दान की जरूरत है। बानापालयों को दूँगा, स्कूलों को दूँगा, उन सारी संस्थाओं को दूँगा, जो देश और समाज की सेवा कर रही हैं। यह भी समझ लो, कमला, कि थन्त में एक दिन सब कुछ त्याग कर किसी जहल में भूती रमाऊँगा !”

“जब तुम अपने हीसबों की बात करने लगते हो, तो मुझे बहुत अच्छे लगते हो !”

“किसी समय बुरा भी लगता हूँ ?”

“नहीं।”

“तुम भूलती हो। क्या उस समय मैं बुरा नहीं लगता, जब मुझे क्रोध आ जाता है ?”

“पुरे तो तुम उस समय भी नहीं जागते, लेकिन मैं दर जाती हूँ। लजित हँसने लगा। खौती आ गयी। तुरन्त मुक़ कर कमला पोकदान उठाया।

“कहती हूँ कि उपादा बात न करो, लेकिन तुम तो मानते नहीं !”

“आज मेरी तबीयत बहुत हलकी है,” हम खे कर लजित ने कहा—

“बात करने में क्या मज़ा था रहा है।”

“लेकिन, उपादा बात करने से तकलीफ बढ़ जाने का दर भी तो है ?”

“तुम फ़िज़ूल कर रही हो, कमला ! अब मैं बहुत जल्द अच्छा हो जाऊँगा।”

“ईश्वर करे, वह दिन जल्द आये !”

“कमला, जानती हो, आज-कल ससार के अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक मृत्यु को पराजित करने में लगे हुए हैं ?”

“वह कैसे ?”

“मृतों को जिन्दा करने के और जीवन की अवधि बढ़ाने के अनेक प्रयोग हो रहे हैं।”

“तब क्या मनुष्य एक दिन ईश्वर से उसके सारे अधिकार छीन लेगा ?”

“ईश्वर तो ईश्वर ही रहेगा। लेकिन गीता में भगवान् कृष्ण ने जो कुछ कहा है, उससे तो यही जान पड़ता है कि मनुष्य को सारी नहीं तो अपनी अधिकांश जिम्मेदारियाँ दे देने में ईश्वर को कोई आपत्ति न होगी ! दे तो शायद वह पहले ही चुके हैं, किन्तु बहुत थोड़े मनुष्यों ने उन अधिकारों से लाभ उठाना सीखा है।”

“गीता में कितने सुन्दर हैं भगवान् के वचन ! जान पड़ता है, मानो अमृत की एक नदी गम्भीर गति से बह रही है !”

“श्री मजा यह है कि हममें कितना भी स्नान करो, जो न भरेगा ! जय खोजो, नयी चीज़ पाओगे !”

“जिन्दगी बढ़ाने की कोई दवा बनी है ?”

“दवायें तो बहुत-सी बनी हैं, जिनके विशासन पत्रों में निकला करते हैं, लेकिन अभी तक कोई ऐसी दवा नहीं बनी, जिसे बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने लाभदायक माना हो।”

“अगर कोई दवा बन जाय, तो मैंगा लेना ।”

“जिन्दगी बढ़ा कर क्या होगा ?”

“जो संसार का उपकार करना चाहता है, उसे अपनी जिन्दगी जरूर बढ़ानी चाहिये ।”

“यह तो ठीक ही है । लेकिन मुझे किसी दवा की जरूरत न पड़ेगी । मैं तो योगाभ्यास करूँगा ।”

“योगाभ्यास से क्या जिन्दगी बढ़ जाती है ?”

“हाँ, योगी जब तक चाहता है, जीता रहता है; और जब चाहता है, प्राण त्याग देता है ।”

“तब तो योगाभ्यास जरूर करना । मुझे भी सिखलाना ।”

“जरूर सिखजाऊँगा । तुम्हारे बगैर तो शायद जंगल में भी मैं न रह सकूँगा ।”

“थोड़ा-सा दूध पियोगे ?”

“ले आओ ।”

कमला चारपाई से उतरी ।

(३)

दूसरे दिन एकाएक रोग बहुत बढ़ गया । बुखार बढ़ गया । खोँसी बढ़ गयी । रह-रह कर बेहोशी आने लगी ।

कमला को अलग ले जा कर डाक्टर ने कहा—“इनको हाजत बहुत नाज़ुक है । चढ़ी सावधानी रखने की जरूरत है । ज्यादा हिलने-डोलने न पायें, ज्यादा बातें न करने पायें । अगर थगले चौबीस घण्टे पार कर ले गये, तो शर्तिया चंगे हो जायेंगे ।”

तीव्र वेग से उठी हुई मनोवेदना से लड़ती हुई, निरबल खड़ी रह गयी वह ।

हंजैकशन दे कर डाक्टर चला गया । रोग-शय्या पर बैठ कर, पति

“तुम तो तुम दर समय भी नहीं खगते, लेकिन मैं दर जगों हूँ।
अज्ञित होने लगता। खाली भा गयी। तुम्हें मुझ पर कमजा
परिक्रान डटाया।

“कहती हूँ कि ज्यादा बात न करो, लेकिन तुम तो मानते ही
नहीं!”

“आज मेरी लक्ष्मीघट बहुत इज्जती है,” दम धँ कर लक्ष्मी ने कहा—
“वाग करने में बड़ा मजा था रहा है।”

“लेकिन, ज्यादा बात करने से लक्ष्मीघट बड़ जाने का डर भी
तो है?”

“तुम फिजूल कर रही हो, कमजा! जब मैं बहुत जल्द भरवा हो
जाऊँगा।”

“ईश्वर करे, यह दिन जल्द आये!”

“कमजा, जानती हो, आज-कल संसार के अनेक पुरन्दर वैज्ञानिक
मृत्यु की पराजित करने में लगे हुए हैं।”

“यह कैसे?”

“मृत्यु को जिन्दा करने के भी जीवन की अधि कमाने के अनेक
प्रयोग हो रहे हैं।”

“तब क्या मनुष्य एक दिन ईश्वर में उसके मारे अधिकार क्षीन
लेगा?”

“ईश्वर तो ईश्वर ही रहेगा। लेकिन गीता में भगवान् कृष्ण ने जो
कहना है, मैंने तो नहीं सुना है।”

“द्वाराओं से लाभ उठाना सीखा है।”

“गीता में कितने सुन्दर हैं भगवान् के वचन! जान पड़ता है,
मानो अमृत की एक नदी गम्भीर गति से बह रही है।”

“धीर मजा यह है कि अममें कितना भी स्नान करो, जी न भरेगा।
अब खोजो, नयी चीज पाओगे।”

“जिन्दागी बढ़ाने की कोई दवा नहीं है।”

“दवायें तो बहुत-सी हैं, जिनके विश्वास परों में निकला करते
हैं, लेकिन अभी तक कोई ऐसी दवा नहीं बनी, जिते बढ़े-बढ़े वैज्ञानिकों
ने लाभदायक माना हो।”

“अगर कोई दवा बन जाय, तो मैं तो लेना ।”

“जिन्दगी बढ़ा कर क्या होगा ?”

“जो संसार का उपकार करना चाहता है, उसे अपनी जिन्दगी जरूर बढ़ानी चाहिये ।”

“यह तो ठीक ही है । लेकिन मुझे किसी दवा की जरूरत न पड़ेगी । मैं तो योगाभ्यास करूँगा ।”

“योगाभ्यास से क्या जिन्दगी बढ़ जाती है ?”

“हाँ, योगी जब तक चाहता है, जीता रहता है; और जब चाहता है, प्राण त्याग देता है ।”

“तब तो योगाभ्यास जरूर करना । मुझे भी सिखलाना ।”

“जरूर सिखलाऊँगा । तुम्हारे बगैर तो शायद जंगल में भी मैं न रह सकूँगा ।”

“धोड़ा-सा दूध पियोगे ?”

“ले आओ ।”

कमला चारपाई से उतरी ।

(३)

दूसरे दिन एकाएक रोग बहुत बढ़ गया । बुखार बढ़ गया । खोँसी बढ़ गयी । रह-रह कर चेहरोशी आने लगी ।

कमला को अलग ले जा कर डाक्टर ने कहा—“इनकी हालत बहुत नाज़ुक है । चढ़ी सावधानी रखने की जरूरत है । ज्यादा हिलने-डोलने न पायें, ज्यादा बातें न करने पायें । अगर अगले चौबीस घण्टे पार कर ले गये, तो शर्तिया चंगे हो जायेंगे ।”

तीन घण्टे से उठी हुई मनोवेदना से छड़ती हुई, निरचल खड़ी रह गयी वह ।

इजेक्शन दे कर डाक्टर चला गया । रोग-शय्या पर बैठ कर, पति

का पैर गोद में छे कर बह केरे येने लगी । 'घब ये क्या न रहेंगे ? इनके बिना संसार कैसा लगेगा ? नंगार में सब क्या रहा जा सकेगा ? नहीं, नहीं ! किन्तु अभी गिराश होने की जरूरत नहीं । शुद्ध भी तो कहते थे कि घबड़े हो जाने की पूरी भाशा है ।'

ललित अचेत पड़ा था । थोड़ी देर कराह कर उसने झोंके थोड़ी । तुलना चारपाई से उठ कर, सिरहाने जा कर, मुक कर उसने चिन्मय स्वर में पूछा—“कैसा जो है ?”

“जरा... पानी... दो ।”

शरीर के गिल्लाम में पानी छे कर, सहारा दे कर उसने उभे उठाया । उठ कर, दो घूँट पानी पी कर, यह फिर खेत गया । झोंकी धा गयी । झोंकते झोंकते उसका सारा शरीर झकझोर उठा । शरीर किमी तरह रुकी, तो उसने दवा पिछायी । दवा पीकर, उसने चौरों बन्द कर ली ।

“कमला !”

“हाँ ।”

“भरसक लज रहा हूँ, लेकिन बह नहीं सकता कि पीऊँगा ! जप तक जरा भी भाशा रहे, तुम धीरज न खोना ।”

कमला अपने को रोक न सकी, फूट-फूट कर रोने लगी ।

“धरे ! तुम तो रो रही हो ! चुप रहो . कमला... ! मैं बह... बरदायत नहीं कर सकता ।”

उसे चुप कराने के लिए कुहनिमाँ टेक कर वह कुछ उठा, लेकिन गिर पड़ा । फिर वह अचेत हो गया ।

रात आ गयी । रोग घटा नहीं । कई डाक्टर धार्ये । दवायें बदली गयीं । इजेक्शन दिया गया । डाक्टर चले गये ।

आधी रात पीत खुली थी । ललित अचेत पड़ा था । पत्थर की मूर्ति बनी हुई कमला सेवा में लगी थी । सहसा ललित द्विचक्रियों खेने

लगा। शरीर पेंठने लगा। दाँत घैठ गये। कमला दवा लेकर दौड़ो, लेकिन पिला न सकी। तब दवा एक ओर फेंक कर, चीख कर, पति के पैरों से लिपट कर, वह फफक-फफक कर रोने लगी।

महमा वह चारपाई से उतरी और एक आलमारी के समीप गयी। एक शीशी उठा कर, काँसे खोल कर, वह उस में भरी हुई जहरीली दवा पी गयी। सिर चकराया। खड़खड़ा कर वह फ्रश पर गिरी। थोड़ी देर तक पेंठ कर, शरीर निर्जीव हो गया।

मृत्यु की सीमा तक पहुँच कर, ललित फिर लौटा। शरीर की पेंठन बन्द हो गयी। हिलकियाँ बन्द हो गयीं। प्राण स्वर में उसने पुकारा—
“कमला !”

फिर जवाब न मिला। तब, शीखें खोल कर, वह इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने लगा। उसने देखा, दाहिने हाथ में खाली शीशी पकड़े हुये कमला फ्रश पर पड़ी है।

“कमला ! कमला !”

ध्यान से देख कर, सब कुल्लु समझ कर, उड़ल कर, वह चारपाई से उतरा। खड़खड़ा कर, वह कमला के शव पर गिरा, और लिपट गया। बुझने हुये दीपक के समान जीवन-शक्ति फड़फड़ा कर समाप्त हो गयी। उसने भी दम तोड़ दिया।

एक स्त्री की डायरी

अपनी दुख-भरी कहानी आज लिख रही हूँ। क्यों? नारी-मुक्ति-संघासिक हृदय कहता है, न लिख। परधाताप-प्रवित मस्तिष्क प्रेरित करता है, अवरय लिख हाथ। मूर्ख हृदय! तेरे ही कारण तो मेरी कहानी दुःखान्त है। तेरे यहकावे में न आती, तो मेरी जीवन-गाथा आज कुधु और हो होनी। कब तक तुम से प्रेम करती आई हूँ। बुद्धिमान मस्तिष्क! कब तक तेरी अवहेलना करती आई हूँ; किन्तु आज, विश्वास कर, तेरे सामने भक्ति भाव से नत-भरतक हूँ।

जिस विधाता ने मुझे हिन्दू-समाज में जन्म दिया, उसने मुझे उसकी पतित पावन मर्यादा पावन करने की क्षमता क्यों नहीं दी? सीता, सुलोचना, सावित्री ये सभी देवियों भी तो, मेरी ही तरह, हास-यास की पुतलियाँ थीं? फिर, जो उनके लिये सम्भव था, मेरे लिये असम्भव क्यों हो गया? दुर्बलता! उधर खड़ी हूँस रही है? हूँस ले, जो भर के हूँस ले! तेरे हास में उपहास है, प्रलोभन भी। आज किसी तरह तेरे पंजे से मुक्त हो कर, तेरे प्रलोभन में न फँसने का प्रयत्न कर चुकी हूँ। हूँस, जो भर का हूँस!

मायावी रूप! तेरा मादक उद्वेग, तेरी मोहन-शक्ति! एक बार तेरा दर्शन कर, संसक कर पैरों पर खड़ा रहता आत्यन्त फटित है। मेरे अवोध शैशव ने माँ के कमरे में जब पहले-पहले तुझे दर्पण में देखा था, तो तुरन्त वशीकरण मन्त्र पढ़ कर, मोहिनी दृष्टि से जादू चला कर, कितने समय तक आत्म-विस्मृति के इन्द्रजाल में धूने उसे बन्दी रक्खा था! शायद थाप-घटा, शायद घंटा भर। आत्म-विस्मृति की दशा तब भङ्ग हुई थी जब कमरे में आई हुई माँ की आवाज कान में पड़ी थी। शैशव तेरा बन्दी हो गया। जीवन तेरे पाँजे पागल! तेरे ही लिये मैं अब तक जीवित रही। मैं कैसे धोखे में थी। जितने बलिदान मैंने तेरे लिये किये हैं, उतने यदि भगवान् के लिये करती, तो, मुझे विश्वास है, यह मुझे अवरय मिल जाते! किन्तु यह तो आज ज्ञात हुआ कि तू देवता के रूप में दानव था! नुर्भाग्य!

वह दिन, वह मधुर कटु दिवस ! अब मानती हूँ । वह गरल छे कर आया था, किन्तु तब तो उसमें सुधा के स्वाद का अनुमान हुआ था ! उसी दिन कमलाकान्त आया था । दूर के तिरते से वह भाभी का भाई लगता था । लम्बे कूद का, भरे बदन का, वह स्वरूपवान जवान था । घाते ही उसने मुझे जिस दृष्टि से देखा था, उसे छात्र कोशिश करने पर भी आज तक न भूल सकी । उसे देखते ही मेरे बदन में बिजली-सी दौड़ गई । अपनी उस समय की दशा का वर्णन करना मेरे लिये कठिन है । दालान में पड़ी हुई चारपाई पर बैठ कर, वह भाभी से बातें करने लगा । भाभी के निकट मूर्तिवत् बैठ कर, मैं उसकी बातें सुनने लगी । रद्-रद् कर वह मेरी धीरे देप्रता, मैं उसकी शोर । बड़ी देर के बाद जब वह बाहर चला गया, तो उठ कर मैं ऊपर अपने कमरे में गई । दीवार पर लगे हुये शीशे के सामने खड़ी हो कर, मैं अपने सौंदर्य तथा जीवन की छवि अवलोकन करने लगी । सहसा उसकी छाया-मूर्ति शीशों के सामने आ कर खड़ी हो गई । एक दोग-निःश्वास खींच कर, विस्तर पर छोट कर, विकट अशान्ति की वेदना सहती हुई, मैं करवटें बदलने लगी । दिन भर मुझे चैन न मिला, रात भर नौद नहीं आई । अशान्ति प्रति क्षण बढ़ती गई । उपा की रक्तिम लालिमा जब ओकाश-मयदल में फैल गई, और पक्षियों का स्वागत-गान आरम्भ हो गया, तो किसी तरह निद्रा-देवी ने कृपा की ।

सवेरे जब मेरी शीखें खुलीं, तो दिन चढ़ आया था । सामने की खिड़की से अन्दर आकर एक प्रकाश-स्तम्भ प्रशं पर लेटा हुआ था । शीशों में कड़वाहट थी, पलकें भारी थीं । एक मिनट तक मैं दीवार की ओर ताकती रही, फिर शीखें बन्द कर लीं ।

“बीबी ! बीबी !” भाभी ने नीचे से आवाज़ लगाई ।

“जी हाँ !”

“ठटो, दिन चढ़ आया । कब तक सोती रहोगी ?”

“घाती हूँ, भाभी ।”

मैं फिर दीवार की ओर ताकने लगी । सहसा कमलाकान्त की आवाज़ सुनाई दी । वह नीचे भाभी से बातें कर रहा था । तुरन्त उठ कर नीचे जाने की उष्कट प्रेरणा होने लगी, किन्तु मैं उठ न सकी । करवट बदल कर मैं प्रशं की ओर ताकने लगी । जिस शक्ति ने मुझे उस समय शोका था, यदि मैं उससे बराबर काम ले सकती...! किन्तु ।

दिन का तीसरा पहर था। राज-ध्वज कर में शीशों के मानने खाई हुई, सौंदर्य-सुधा पान का रस भी। सड़ता कमरे में दिसों के प्रयोग करने की चाहट मिली। मैंने गुड़ कर दरवाजों की ओर देखा, कमराकामन मूर्च्छित गढ़ा हुआ मेरी ओर पकड़ देखा रहा था। मैंने अग्नि भीषी कर ली, किन्तु मेरे थोड़ी पर मुट्काग ब्यक्त हो गई। मेरा हृदय वेग से धड़कने लगा, सौम्य कर खाई रहना असम्भव हो गया। यह मेरी ओर बढ़ने लगा। दिसों ने मन में कहा, 'भाग !' किन्तु, मैं भाग न सकी, मूर्च्छित खाई रह गई। समीप था कर, दक कर, उसने कहा—
"शकुन्तला !"

उन्हाद् मेरी रग-रग में भयकर वेग से दौड़ने लगा। ककफदाती हुई आँखों से टसकी आर नेत्र कर, मैं फिर प्रार्थ की ओर लाकने लगा।

"तुम कितनी सुन्दर हो शकुन्तला !"

मेरे रोम-रोम से उत्रावा निकलने लगी। उसने मेरा हाथ पकड़ लिया। किसी से फिर मन में कहा, 'भाग !' मैं हाथ मुड़ाने की कोशिश करने लगी। उसने मुझे कर-पाथ में बाँध लिया। मैं निरन्तर हो गई। आत्म-समर्पण हो गया। उस समय का वह उत्तम गरज मिथित सुख ! आज उससे पूणा करती हूँ, किन्तु उसे भूख नहीं सकती !

दुष्पन्त और शकुन्तला का प्रेमामिनय कई मसाह तक चलता रहा। फिर एकाएक दुष्पन्त को विश हो जाना पड़ा। कारण, भाभी की हम लोगों के प्रेम की बात मालूम हो गई। हम दोनों को फटकार सुननी पड़ी थी। भ्रजा और भ्रजानि की भाग में शकुन्तला निरंतर जजने लगी। किन्तु दुष्पन्त को सूरत हर घड़ी आँखों में यसी रहती !

×

×

×

छ' मास बाद मेरा विवाह हो गया, किन्तु उसके साथ नहीं, जो मेरे मन में बस गया था। जो होता चाहिये, वह नहीं हो पाता; जो न होना चाहिये, वह अवरय हो जाता है ! यही विडम्बना तो समाज की जड़ काट रही है ! धर्मों की ओर निद्रा से जाग कर, समाज आज अँगड़ा-इयो लेता हुआ दण्डिगोचर हो रहा है। किन्तु अकर्मवपना के इन्द्र-पाल से शीघ्र मुक्त हो जाना सद्द नही। कुर्छे में गिरा हुआ मनुष्य, विकट चेष्टा करन पर भी, क्या शाय बादर निकल सकता है ?

जब मैं ससुराज गई, और पतिदेव से साक्षात्कार हुआ, तो मेरी दृश

उस घानक की-सी हो गई, जो पहले-पहल अप्पारक के सामने गया हो ! मन में कौतूहल उत्पन्न हुआ, भय-मिश्रित श्रद्धा भी । किन्तु प्रणय क्या कभी निमंत्रण देने में आया है ? पतिदेव मुझसे १३ वर्ष बड़े तो अवश्य थे, किन्तु वह स्वस्थ थे और कुरूप न थे । उनके समीप जा कर जान पड़ता था, मानो किमी शान्त, गर्मोर, अटल पर्वत के सामने खड़ी हूँ ! वह धार्मिक व्यक्ति थे और विद्या-प्रेमा । दिन भर वह किमी दफ्तर में काम करते, और सौंझ सवेरे अध्ययन तथा आराधना में रत रहते । उनको स्वामाधिक गर्मारता, विवेकशीलता तथा सरलता के सम्मुख में भक्तिभाव से नत मस्तक हुई; किन्तु हज़ार धार कोटिश करने पर भी उन्हें प्यार न कर सकी । प्यार करने से प्यार मिल सकता है । किन्तु जहाँ गाम्भीर्य का एकद्वय राज्य हो, वहाँ भावुकता पनप नहीं सकती ! फिर मेरा हृदय भी तो अपना न था ! कैसी विषम परिस्थिति थी !

केवल उत्तम वस्त्र, उत्तम भोजन पाने और धन्य किसी स्त्री के शासन से मुक्त होने ही में सुख होता, तो समुराल में मैं अवश्य सुखी रहती । पतिदेव के अनिरिक्त वहाँ और कोई न था, और वह यथेष्ट वेतन पाते थे । ह्मन्त्रिये शरीर के पोषण के लिये वहाँ सब-कुछ था । किन्तु मनुष्य के हाड-मांस के शरीर में मांस का एक छोटा-सा टुकड़ा है, जिसे हृदय कइते हैं; और हृदय जब मस्तिष्क को पराजित कर लेता है, तो उसकी शक्ति अजेय-सी हो जाती है ! हृदय प्रणय माँगता है । प्रणय की मादक क्रीड़ा ही में उसे सुख की अनुभूति प्राप्त होती है—और वह क्रीड़ा जिनके सहारे उन्माद के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर, दुग्ध हो कर वह गिर पड़ता है ! ससार के काम-धंधे से कुरमत्त पा कर रात में पति-देव जब मेरे निकट अपना नीरस शुष्क प्रणय ले कर आते, तो उस समय हृदय की सम्पूर्ण शक्ति से मैं उनमें घृणा करती । उनके उस व्यवहार को प्रणय कहने में आज भी मुझे आपत्ति है । सौंझ-सवेरे शरीर को घर के काम-धंधे में लगाए रख कर, मैं हृदय को बहलाये रहती; किन्तु दोप-हर की अलस नीरवना में जब बृद्धा महरी भी अपने घर चली जाती और रात्रि की भयङ्कर निस्तब्धता में जब पतिदेव धर्रांटे खेने लगते, हृदय आपे से बाहर हो कर हाहाकार करता । उस समय वियोगिनी शकुन्तला समस्त देवियों तथा देवताओं के मनच रो-रो कर दुग्धन्त को पाने की कामना करती !

मनुष्य के खलाट पर विधि-देव जो कुछ मला-बुरा किए देने हैं, उसे

कराबिन् यथे वदे शानी भी मित्र नहीं सकते ! फिर मैं तो एक साधारण, सुखिहोना मारी हूँ । जो होना था, हो कर रहा । मेरे उम्माद-प्रसिद्ध हृदय की कामना पूर्ण हुई । आज मोक्षों हैं, वह कैसी अशुभ घड़ी थी, किन्तु उस समय तो मेरा हृदय आपे में न रह सका । होरदर का समय था । दाखान में बैठा हुई मैं महरो से घावें कर रही थी । सहसा किसी ने बाहर का दरवाजा खटखटाया ।

“दखो तो, सीतल की माँ, कौन है ?”

“अच्छा, बहूजी । इतनी रात कौन आ गया ?” बूढ़ा उठ कर दरवाजे की ओर चला ।

मेरा मन चौकूहक से भर गया । अंधकारपूर्ण हृदय में आशा की एक सीख किरण मिजमिलाने लगी । कहीं वही तो नहीं है ? पौष मिनट के बाद महरी ने छोट कर कहा—“एक बाबू आये हैं, बहूजी । आपके कोई भातेदार हैं ।”

शायद वही है ! अण भर निम्नरूप रह कर मैंने कहा—“जा कर पूछो, सीतल की माँ, नाम क्या है ?”

“अच्छा, बहूजी ।” महरी फिर बाहर चली गई ।

हाँ, वही है, अचरय वही है । अब महरो, आपस या कर बोझो—
“अपना नाम कमलाकान बताते हैं ।”

वह आ गया ! इस अनुभूति के रस सरोवर में मेरा हृदय डूब गया । आ गया, वह आ गया ! सहसा भीतर किसी ने कहा, ‘कहला वे, खजा जाय ।’ इस आवाज़ के आदेशानुसार उस समय खजता, तो आज यह दिन क्यों दिखना पड़ता ? किन्तु उस समय तो शकुन्तला के द्वार पर एक अतिथि आया था, और वह अतिथि कोई और नहीं दुष्यन्त था ! दुष्यन्त का निरादर शकुन्तला कैसे करती ? मैंने व्यापता से कहा—
“उन्हें अन्दर बुला लामो, सीतल की माँ ।”

“अच्छा, बहूजी । बड़े भले मनई जान पड़ते हैं ।”

विविध भावनाओं से आन्दोलित हो कर, मेरा हृदय घेत से घबकने लगा । साहसी ठाट-घाट से व्यक्तिगत, पान चबाता हुआ, हाथ में चमड़े का बक्स लिये हुए, वह सामने आया । मुस्करा कर, हँट उतार कर, सिर झुका कर, उगने से मुस्कार किया । मुस्करा कर, हाथ जोड़ कर, मैंने नमस्कार का उत्तर दिया ।

“भायो !”

हालान में आ कर, मेरे सामने खड़े हो कर उसने कहा—“अच्छी तो हो, शकुन्तला ?”

“हाँ ! बेटो ।”—चारपाई की ओर संकेत करके मैंने कहा ।

क्रश पर एक ओर बक्स रख कर, वह चारपाई पर बैठ गया, धीरे मेरी ओर एकटक देखने लगा । एक बार उसकी ओर देख कर, सिर झुका कर, मैं कई चरणों तक खड़ी रही, फिर सामने के कमरे में चली गई । एक सडूक खोल कर, एक रुपया निकाल कर मैंने पुकारा—“सीतल की माँ !”

“हाँ, बहूजी !” रसोई-घर से महरी ने उत्तर दिया ।

“यहाँ आओ, सीतल की माँ ।”

“आती हूँ, बहूजी ।”

दो मिनट के बाद सीतल की माँ कमरे में आई । उसे रुपया दे कर मैंने कहा—“बाज़ार जा कर ताज़ी पूरी, मिठाई और नमकीन ले आओ, सीतल की माँ ।”

“किन्ते-किन्ते का लाऊँगी, बहूजी ?”

“एक रुपये में सब ले लेना । आध सेर पूरी ले लेना, देढ़ पाय मिठाई, बाकी पैसों की नमकीन । लेकिन बिलकुल ताज़ी चीज़ें खाना, सीतल की माँ ।”

“बहुत अच्छा, बहूजी ।” महरी चली गई ।

कमरे से बाहर निकल कर, मैंने अपने दुष्पन्त से पूछा—“कहाँ से आ रहे हो ?”

“घर से ।”

“कह कर आये हो ?”

“नहीं !”

“क्यों ?”

कोई उत्तर न दे कर, सिर झुका कर, वह क्रश की ओर नाकने लगा ।

“यहाँ क्यों आये हो ?... बोलो !”

किन्तु वह निस्तब्ध, मूर्तिवत् बैठा रहा । उसकी ओर कस्याप्यं आँसुओं से देख कर मैं क्रश पर बैठ गई ।

खाने का सामान ले कर महरी आ गई । कपड़े बदल कर, हाथ-मुँह धो कर, कमलाकान्त ने भोजन किया । नीचे के एक कमरे में मैंने

उमके जिधे बिरतर जगया दिया । पार सा कर, गिगरेड जवा कर, कर
 आराम करमे गया । तब महरी ने कहा—“तब भी जाऊँ न, बहूती ?”

“दहरो न, सीतल की मी । कहीं गाधोगी ?”

“घर जाऊँगी । जरा काम है ।”

“भरणा.. गो.. जाओ ।”

महरी खड़ी गई । बाहर का दरवाजा बन्द करके मैं देना करने
 कमरे में गई, दरवाजे की सौंखल बदाई, और पथर पर बैठ कर, विष्ट
 मानसिक आराम का दशा में, करवटे बदलने लगी । हरथ का उम्पद
 प्रति चद बइने लगा । तमकी मुग्ना पोहार करने लगी ।

महारा किमो ने कमरे के दरवाजे की सौंखल खटपटाई । आये मे
 बाहर होने हुए हथय को किमो मरद रोक कर, मैं सुपचार पकी रई ।
 सौंखल फिर खण्टाई गई ।

“कीम है ?”

“मैं हूँ, शकुन्तला । इरा दरवाजा खोलो ।”

“जा कर आराम करो । क्यों तंग करते हो ?”

“तब एक पाग मून लो, शकुन्तला । फिर मैं चजा आऊँगा ।”

“वहीं से बहो ।”

“तुम्हारे परे पथरा हूँ, शकुन्तला, दरवाजा खोल दो ।”

चद मुझे उठना पड़ा । अन्तरतम में किमी ने चेतावनी दी, ‘मत
 खोल, अमागिनी !’ किन्तु सामने पदा हुआ राजाना कैल कर, लोभी
 मनुष्य कहीं रोकने से रुक सकता है ! असमाध ! दुष्मन की पुकार
 शकुन्तला के कानों में पड़े और यह विकल न हो ! असमाध ! मैंने
 दरवाजा खोल दिया । उसने कमरे में प्रवेश किया । दीवार के सहारे
 गड़े हो कर, चद मेरी ओर एकटक देखने लगा । उसके चेहरे की ओर
 दलते हुये, मैंने कहा—तुमने मेरे समय का नबाय क्यों नहीं दिया ?

“कौन सा सवाल ?”

“वही कि मेरे घर क्यों आये हो ?”

“क्यों थाया हूँ ! शकुन्तला, विश्वास करो, अगर मैं न आता, तो
 पागल हो जाता !”

“न आते, तो पागल हो जाते ?”

“हाँ, शकुन्तला, ज़रूर पागल हो जाता !”

“तो यह कहो कि अपनी रक्षा के निमित्त मेरा सर्वनाश करने आये हो !”

“तुम्हारा सर्वनाश करने आया हूँ ! असम्भव ! तुम्हारा सर्वनाश करने की कामना मैं स्वप्न में भी नहीं कर सकता ।”

“तुम सत्य कह रहे हो या अमृत्यु यह मैं नहीं जानती । किन्तु, यह तो जानते ही होगे, नहीं जानते तो सुन लो, पुरुष के हजार अशुभ-गुणों को समाप्त हूँ कर उड़ा देता है; लेकिन स्त्री अगर एक बार पथ-भ्रष्ट हो गई, तो उसे रसातल में ही शरण मिल सकती है !”

अब वह खड़ा न रह सका, चारपाई पर बैठ गया, और कुहनिपों को घुटनों पर टेक कर, हाथों से सिर पकड़ कर प्रार्थना की ओर साकने लगा ।

“तुम मर्द हो, पाबू साहब, स्त्रियों की गर्म-वेदना और असहायता की बात क्यों समझोगे !”

धीरे-धीरे सिर उठा कर, उसने मेरी ओर देखा । उसकी आँखों में आँसू छलक रहे थे । एक क्षण वह मेरी ओर एकटक देखता रहा । उसकी आँखों से आँसू की धाराएँ बहने लगीं । मेरा हृदय आपे में न रह सका । तुरन्त उसके समीप जा कर, मैं आँचल से उसके आँसू पोंछने लगी । मेरी आँखें भी आँसू बहाने लगीं । मुस्करा कर, उसने मुझे कर-पाश में बाँध लिया । उसकी वह आर्द्र मुस्कान मेरे स्मृति-पटल पर लोहे की मोकीली सलाई से अंकित की गई थी ! आज उसे देखती हूँ, तो जो जल उठता है, किन्तु उस समय तो एक ठोकर लगा कर उसने मेरे स्रग्धर का बाँध तोड़ दिया था !

दुष्पन्थ और शकुन्तला का वह प्रेमाभिनय फिर आरम्भ हो गया, और कई दिनों तक जारी रहा । फिर एक दिन एकाएक भंडा फूट गया । उस दिन पतिदेव, कुछ अस्वस्थ होने के कारण, दफ्तर नहीं गये थे । वह ऊपर शयनागार में आराम कर रहे थे । मैं नीचे कमलाकान्त के कमरे में थी । वह मेरे हाथ पकड़े हुए था । हम दोनों घुल-घुल कर बातें कर रहे थे । सहसा कमरे में किसी ने प्रवेश किया और ठिठक कर खड़ा हो गया । चौंक कर, हाथ छुड़ा कर, मुँह मोड़ कर, मैंने देखा, उधर दरवाजे के पास खड़े हुये पतिदेव हम दोनों की ओर विचित्र दृष्टि से देख रहे थे । उनकी उस दृष्टि में कठोरता न थी, क्रोध न था, घृणा न थी, कदाचित् दया थी ! मैंने आँखें नीची कर लीं । मेरा हृदय लज्जा

तथा भय से मर गया, शरीर पसीने में तर हो गया। उस समय पति धरती फट जाती, तो मैं उसमें सहर्ष समा जाती। धीरे धीरे वे कुम्हार कमरे के बाहर चले गये।

कई क्षण हम दोनों निस्तब्ध, मूर्खियन् बैठे रह गये। फिर किन्हीं तरद होय सम्मेलन कर मैंने कहा—“सहर्ष हो गया।”

“यह तो एक दिन होने ही को था।”

“अब क्या होगा ?”

“होगा क्या, दग्धन के नरक से निकल कर मुक्ति के स्वर्ग की ओर चलना होगा।”

“नहीं, यह न होगा।”

“क्यों ?”

“नहीं जानती क्यों।”

“सोच कर देखो, शकुन्तला, हम लोगों के लिये और कोई मार्ग भी तो नहीं है।”

मैंने कोई उत्तर न दिया, मन मारे दूबे, चित्र लिखित सी, कर्ण की ओर ताकती हुई निस्तब्ध बैठी रह गई। वह भी प्रामोश ही गया। हम दोनों कितनी देर तक इस तरह बैठे रहे, नहीं कह सकती। एकाएक कोई चीज मेरे सामने गिरी। चौंक कर मैंने देखा, एक लिफाफा था। भिन्नकर, उठ कर, मैंने कमरे के बाहर दृष्टि डाली, पतिदेव घर से बाहर चले जा रहे थे। झुक कर, लिफाफा उठा कर मैंने उसे खोला। उसमें पतिदेव का लिफाफा हुआ पत्र था। पत्र में लिखा था—“जो कुछ इतने दिनों से जानना चाहता था, आज ज्ञात हुआ। मेरी आशाका साथ निकली। मैं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रायश्च है। यदि तुम पहले यथा देती, तो मैं तुम्हें पहले ही मुक्त कर देता। किन्तु अपना भेद क्षिपाये रहना तुम्हारे लिये स्वाभाविक ही था। पर, अब मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ। तुम जाहो, जा सकती हो। रुपये, गहने, कपड़े, जो कुछ चाहो, अपने साथ ले जाओ। मैं तुम्हें सहर्ष आशा देता हूँ। मैं घर से बाहर चला जा रहा हूँ और आज न लौटूंगा। इतना समय तुम्हारे लिये काफी है। हाँ, याद रखना, मेरा दरवाजा तुम्हारे लिये हमेशा खुला रहेगा।”

पत्र पढ़ कर मैंने उसे कमलाकान्त को दे दिया। उसे पढ़ते पढ़ते उसका चेहरा खिल उठा। मेरे दर-प्रदेश में भौंति भौंति की भावनाओं

का तूफान उठ खड़ा हुआ। उस पत्र का एक-एक शब्द मेरे मस्तिष्क में चक्कर काट कर बर्फी की तरह घोट करने लगा। यदि वह साक्ष्य देते, तो कदाचित् मुझे इतनी पीड़ा न सहनी पड़ती !

“अब ?” पत्र मुझे लौटाते हुये उसने पूछा।

“इसी को सर्वनाश होना कहते हैं !”

“मुक्ति में असीम सुख है ! उससे तुम्हारा सर्वनाश कैसे होगा ?”

“तुम्हारे अन्दर नारी का हृदय होता, तो तुम समझ पाते ! किन्तु तुम तो मर्द हो, कैसे समझोगे ?”

निरुत्तर हो कर, वह कई घण्टे निस्वप्न बैठा रहा। फिर उसने कहा—“जो कुछ हो, अब तो रास्ता आप ही साझ हो गया है। इसलिये इस स्वर्ण सुयोग से अवश्य लाभ उठाना चाहिये !”

“इसके अतिरिक्त और उपाय ही क्या है !”

उसी दिन गोपूत्रि के समय मी रुखे, गहने और थोड़े से करड़े खे कर, घर छोड़ कर मैं अपने दुष्पन्न के साथ शहर चली गई। खेल का यथेष्ट भाग हो चुका था, इसलिये उसका अन्त देखना भी आवश्यक ही था।

×

×

×

दूसरे दिन हम दोनों कलकत्ता पहुँचे, और एक धर्मशास्त्रा में ठहर गये। एक सप्ताह बाद धर्मशास्त्रा छोड़ कर एक बड़े मकान में कुछ कमरे खे कर रहने लगे। दिन सैर-सपाटे में बीतने लगे, रातें रंगरेलियाँ में। एक मास में नरद समाप्त हो गया। शत्रु गहने खेचे जाने लगे। मैंने कमलाकान्त को नीकली करने की मन्नाद दी। गौरी तलाश करने के, बहाने यह दिन-दिन-भर शायब रहने लगा।

एक दिन जब वह सग्या समय घर लौटा, तो शराब में चूर था। यह देख कर, मुझे धोख आ गया। उमठे समीप धा कर, मैंने रोपपूर्ण स्वर में कहा—“तुमने शराब क्यों पी ?”

“इसमे तुम्हें क्या मतलब है ? जब जी चाहेगा, पीऊँगा !”

“बड़ी दुर्गति करने के लिये मुझे यहाँ खाने हो ?”

“तू अपने मन से आई ! मैं तुम्हें जनरदस्त्री नहीं लाया !”

“धोखा दे कर, कैसा कर, ऐसा व्यवहार करना, भले आदमी का काम नहीं है !”

“सुप रह हरामजादी, नहीं तो अभी जूने जगा कर मित्र बरफ कर दूंगा।”

यहाँ से हट कर, रसोई पर में जा कर, आँच में मुग पिना का मैं पू-पू कर रोने लगा। उस समय उसके प्रति मेरे हृदय में पड़के-पड़के गुणा टांग हुई थी।

दो मास में ईपर रिंग धोड़ कर, मेरे सारे गहने विक गये। कमल, कामन हर समय शराब के नश में बरमस्त रहने लगा। दिन भर तो बस, शापय रहना ही था, एक दिन बस रात को भी नहीं खींग। सारा रव अभीम मर्न-वेदना सहती हुई, मैं करवटें जड़लता रहों। दूसरे दिन तबे जब बड़ चापा, तो नश में चूर या।

“रात भर कहाँ रहे ?”

“एक जगह !”

“कहाँ ?”

“नहीं बताऊंगा !”

“इतना जानने का भी मुझे अधिकार नहीं है ?”

“नहीं, मुझे मेरे ऊपर कोई अधिकार नहीं है।”

“शायद तुम्हारा मन कहीं घीर क्षम गया है ?”

“लग गया है तो तुम्हें क्या मतलब ? जिससे ज

मन लगा खे।”

“अच्छा, नीबत यहाँ तक पहुँच गई ?”

“हाँ हाँ, यहाँ तक नीबत पहुँच गई ! अब मैं तुम्हें कोई सरोकार रखना नहीं चाहता।”

“हाँ, अब यहाँ कहना तुम्हें शोभा देता है। अनाथ जो कुछ दिखाये, य का है।”

“ईपर रिंग उतार कर दे दे।”

“नहीं दूँगा। जब तुम्हें कोई सरोकार रखना नहीं चाहने, तो ईपर रिंग मागने का तुम्हें क्या अधिकार है।”

“अधिकार कैसे नहीं है। सुपचाप दे दे, हरामजाद, नहीं तो अभी सित फोड़ दूँगा।”

मेरा आँवों से आँसू को धारायें बहने लगीं।

“उतार, हरामजादी, जल्दी उतार।”

हृयर-रिंग उतार कर मैंने उसके सामने फेंक दिये। उठ कर, हृयर-रिंग ले कर, वह दबदबाता हुआ चला गया। छत से कमरे में जा कर, चटाई पर छोट कर, मैं फफक फफक कर रोने लगी। कमलाकान्त के प्रति मेरे हृदय में पृथा प्रतिक्षण बढ़ने लगी।

दिन को वह नहीं खौटा, रात को भी वह नहीं आया। मेरा भविष्य प्रगाढ अन्धकार के परदे की तरह मेरे सामने धा खड़ा हुआ। महमात्म परदे पर अलौकिक उद्योति से जगमगाती हुई दृष्टिगोचर हुई एक मूर्ति, शांति, गम्भीर, अविचल ! वह मूर्ति पतिदेव की थी। उस समय मेरी आत्म-ग्लानि का पारावार न था। प्रतापित हृदय ने कहा, 'अभी आत्म-हरया कर डाल !' मस्तिष्क ने सान्त्वना देते हुये कहा, 'अभी उठर, शौघ्रता न कर, घर चल !' हृदय पराजित हो चुका था। मस्तिष्क के आदेशानुसार चलना ही उचित जान पड़ा।

किसी तरह सवेरा हुआ। नहा धो कर, मैं दो-एक चीजें खरीद लाईं। मैंने २०) बचा रखे थे, इसलिये रुपयों की चिन्ता न थी। दोपहर के समय कैबल एक धोती ले कर, स्टेशन की ओर चल पड़ी। किसी तरह स्टेशन पहुँच कर, टिकट ले कर, मैं घर की ओर जानेवाली गाड़ी पर बयार हो गई। मग मैंने संतोष की साँस ली।

×

×

×

दूसरे दिन सिर से पैर तक शहर छोड़े हुए, मैं घर के द्वार पर पहुँची। दरवाजा खुला हुआ था। मैंने डरते-डरते अन्दर प्रवेश किया। अँगन में सीतल की माँ अँगोठी में कोयले मुजगा रही थी।

“सीतल की माँ !”

“अरे...वह जी !”

“हाँ, सीतल की माँ ! अपना काबा मुँह तुम्हें दिखाने आई हूँ।”

सीतल की माँ की आँखों से आँसू बहने लगे। मेरी आँखें भी अध्र-वृष्टि करने लगीं। वह उठ कर, मेरे समीप आई, और मुझ से लिपट कर फफक-फफक कर रोने लगी। आवेग जब कम हुआ, तो उसने मुझे दाखान में ले जा कर बैठाया। आँखें पोंछ कर, मैंने पूछा—“वह कहाँ है ?”

“ऊर...ई, वह जी। कई महीने से बहुत बीमार है !”

“बहुत बीमार है ?”

भइया को कभी हँसते नहीं देखा। खामे-खामे का भी उनको खरब नहीं रहता था। धीरे-धीरे दशा बिगड़ती गई। अब तो हाड बहून गुराह है। भइया उठ कर खड़े हो जाएँ, तो जानूँ ?”

“ऐसा गुराह दशा है ! दशा किसकी होती है सीतल की माँ ?”

“रोग एक कारगर भा कर देख जाता है, उनी के यहाँ से दवा खाना है।”

“सेवा तुम्हीं कर रही हो, सीतल की माँ ?”

“हाँ, यह जी, और कौन करे ? मैंने कहा था, एक नौबर रख लो, भइया, गुदा भइया ने मजूर नहीं किया, बहा, तुम्हारे सिवाय मैं और किसी को अपने पास न खाने दूँगा !”

“रोग क्या है, सीतल की माँ ?”

“यह तो मैं नहीं जानती, यह जी, कोई ऊँच बहता है, कोई कुँआ ! गुपार हमेशा बदा रहता है।”

“तब तो कोई बदा गुराह रोग है, सीतल की माँ ?”

“हाँ, यह जी।”

“दूर समय क्या वह सो रहे हैं ?”

“नहीं, यह जी, कोई किताब पढ़ रहे हैं।”

“वहाँ और कोई तो नहीं है ?”

“नहीं, यह जी। जासोर्गी क्या ? हाँ, जाधो, देल बाधो। तुम्हारी मान बराबर किया करते हैं ?”

उठ कर, सीढ़ियों पर चढ़ कर, ऊपर पहुँच कर, उनके कमरे में प्रवेश कर, मैं उन्हें परधातापूर्ण दृष्टि से देखने लगी। चमड़े से मढ़े हुई हड्डियों का एक टटरी चारर ओढ़ पजल पर पड़ी थी। यही वह है, जिनका शरीर कैसा बजिष्ट था, सुगठित था !

“कौन है ? सीतल की माँ ?”

“नहीं, मैं.. हूँ !”

“कौन ?”

पुस्तक के पृष्ठों से दृष्टि हटा कर, करघट बदल कर, वह मेरी ओर विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगे।

“तुम.. हो ?”

“जा...हाँ !”

मेरी ओर देखते-देखते, उनकी गद्दे में घुमाई शक्ति से धीसू बहने

खोंटे। पञ्ज के समीप बैठ कर, उनके पैर पकड़ कर, मैं फूट-फूट कर रोने लगी।

“रोओ मत, शकुन्तला ! मुझे...कष्ट होता है।”

“सिमा...सिमा !”

“जो-कुछ तुम ने किया...उसके लिए...मैं...तुम्हें...दोषी नहीं समझता !”

उनके धरण पकड़े हुए, मैं रोती रही।

“उठो...नहाओ दाँवों। खाओ-पीओ, धकी-मौँदी चली आ रहो हो।”

किन्तु मैं उठ न सकी।

“साँतल की माँ ! ओ साँतल की माँ !”

“आती हूँ, भइया !”

“मनुष्य का शरीर...गुण्य-अवगुण्य का घर है। जब जो भाइ प्रबल होता है, उसी के घसीभूत हो कर...मनुष्य कार्य करता है। मन को शान्त करो !”

साँतल की माँ ने कमरे में प्रवेश किया।

“बया है, भइया !”

“इन्हें ले जा कर गहलाओ...खाना खिलाओ !”

“अच्छा, भइया। उठो बहूजी, चलो।”

तब उठ कर, मैं घुँदा के साथ नीचे गई।

केवल दो दिन उनकी सेवा करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ।

ये ही कदाचित् मेरे जीवन के सर्वोत्तम दिवस थे ! इसी अल्प समय में मेरा नारीत्व सार्थक हुआ !

आज सारे दिन वह अचेत पड़े रहे। डाक्टर आया, सुई लगा कर धीरे धीरे फीस ले कर चला गया। गोधूँज के समय दो-तीन मिनट के लिये उन्हें होश आया था। उस समय मुझे पास बुला कर, मेरा हाथ पकड़

कर, उन्होंने कहा था—“शकुन्तला ! अब... घर सँभालो ! मैं... जाता हूँ ! तुम से... मैं अत्यन्त... सन्तुष्ट हूँ । पानी !”

मैं तुरन्त पानी खाई और पिछाने लगी, किन्तु वह पी न सके, पिर येहोरा हो गये । एक घण्टे के बाद उनका देहान्त हो गया । मैं जी भर के रो-धो चुकी । अब रो कर क्या होगा ?

उपर उनका शव पड़ा हुआ है । संसार में अब मेरा कौन है, मेरे बिये क्या है ? कोई नहीं, कुछ नहीं ! हाँ, केवल यंत्रणाएँ हैं ! किन्तु यंत्रणाएँ सहने के बिये अब मैं तैयार नहीं हूँ ! सामने शान्ति के सिखास में वह चोंज़ धुली रक्सा है, जो मुझे मेरी यंत्रणाओं से मुक्त कर देगी ! अब मुझे वसे पी लेने दो !

पी चुकी । औपधि काम करने लगी है, ज़रा देर में काम समाप्त हो जायगा । संसार हाट का खोना देना समाप्त हो चुका । अब इह लोक से नाता टूटने को है । क्या खे कर यहाँ आई थी, यह नहीं कह सकती । किन्तु यहाँ से खे वद जा रही हूँ सुख और शान्ति ! इससे अधिक मनुष्य किस वस्तु की कामना कर सकता है ?

आकाश में तारे टूट रहे हैं । और मेरे शरीर के अन्दर मेरा विल हूय रहा है; चक्कर आ रहे हैं । जीवन को बाग डोर हाथ से निकलती जा रही है । धन्धकार; निबिध धन्धकार मुझे निगलने के बिये दौड़ा था रहा है ! पतिदेव ! पति .. देव !

हार

दो साध की सफल कैद भुगतने के बाद आज आबिद घर लौट रहा था। गाड़ी आने के घण्टों पहले से नगर-निवासियों के झुण्ड के झुण्ड

हितैषी थे। सभी गर्व और अनिबंचनीय आह्लाद से फूले न समाते थे। केवल एक इच्छा उस विराट् समूह को आन्दोलित कर रही थी, और वह थी आबिद का यथोचित सम्मान करने की इच्छा। ऐसे आश्म-स्वागी युवक का स्वागत करने में किसे गर्व न होगा, जिसने अपने सारे सुखों को देश के लिये तिलांमलि दे दिया हो ?

गाड़ी आते ही जयकारों की मंगल-ध्वनि गूँजने लगी। आबिद मुस्कराता हुआ उतरा। पुष्प-वर्षा होने लगी ! हार पहिनाये जाने लगे। अथ हाथ मिलाते और हृदय-से-हृदय लगा कर भेंटने की लोकप्रिय क्रियाएँ समाप्त हो गईं, तो आबिद स्टेशन से बाहर लाया गया। फिर एक शानदार शूलस शहर की ओर रवाना हुआ।

कई घण्टों के बाद जब आबिद घर पहुँचा और बाहर लोगों से मिल कर अन्दर गया, तो माँ ने कलेजे से लगा लिया, और माया चूमा। अपने पिछड़े हुए लाल को पा कर माँ को जितनी खुशी हुई, यमान नहीं हो सकती। अपने खोये हुए बच्चे को पा कर गाय को जितना हर्ष होता है, उससे कहीं ज्यादा हर्ष आबिद की माँ को था। बलाएँ लौती जाती थीं और जेल की बाँतें पूछती जाती थीं। इतने में एक सुन्दर नवयुवती आई और दरवाजे के ममीप ठिठक गई। युवती के हाथ में खहर का एक सुन्दर हार था। युवती ने आबिद को देखा, आबिद ने युवती को। युवती का चेहरा चमकने लगा, और स्वतः नीचे झुक गई। युवती की ओर देख कर आबिद की माँ ने कहा—“आओ, येती अमीना

आघो । शर्म किस बात को है ? घेय आदि, ये युमुश्रंग साइव को साहवागरी है । इन्हें सर्वसहायता से पूरी हमदर्दी है ।”

अमीना खुशानी हुई आगे बढ़ी । आदि के समीप पहुँच कर रुकी, और द्वार पहिना देने के लिए हाथों को ऊपर उठाने का कोशिश करने लगी, किन्तु छात्रा के भार से हाथ ऊपर न उठ सके । द्वार बाध ही में रहा गया । अर्धे गोपी किये, जमीन की ओर ताकती हुई, अमीना खड़ी रह गई ।

“पहिना दो, अमीना । अरनीं से शर्म नहीं करते, बेटी ।”

आदि, ली कड़ा करके, अमीना ने आदि के गले में द्वार टाक दिया । द्वार गले में पड़ने ही आदि के शरीर में एक विविध सन-सनाहट पैदा हो गई ।

(२)

यों तो आदि ने अमीना को अकसर देखा था, लेकिन उसके दृशना सायात्र में अमीना का दरवाज कमी आदिपर्य नहीं जमी सका था । फिर यह दिन आया, जब अमीना अरनीं अनुमत्त रूप-रशि धीरे धीरे का उपहार ले कर उसके हृदय-द्वार पर आई । तब मंदिर में निवास करने वाला एकान्त-मेधी उन्हा श्रागत किये बिना न रह सका । लैकरीं भावनाएँ, आराम्य धीरे अमर्तें जाग पड़ीं । यह परिवर्तित हुआ, उसके जीवन के वरुण अभिनय का नया हृदय सामने आया । उसे ऐसा जान पड़ने लगा, मानो गहरी गोद के बाद अर्धे लुगी हो ।

रात के नी बज चुके थे । आदि अपने कमरे में धाम विस्तृत की दशा में एक आरामकुर्सी पर लेटा हुआ था । अमीना का कठिन विषय उसकी अर्धों में फिर रहा था ।

वृद्धे जीकर अन्वास ने कमरे में प्रवेश करके कहा—“मियाँ ! चलिये, खाना तैयार है ।”

“अच्छा, चलो, अभी आता हूँ ।”

“जल्दी आइयेगा, नैया ।”

“अच्छा ।”

अन्वास चला गया । फिर वही अर्ध-वेतना की दशा हो गई । अमीना फिर आ-आ कर खड़ेने लगी । उसकी वही नाशुक नाशुक कन्नाइयाँ, उसकी वही लाज भरी अर्धों, उसका वही अर्ध से अर्ध

बदना, रुकना और शौंसे नीचो कर लेना, वा-वात मूर्तिमान हो कर
आविद के बोट हाथे हुप दिल में पुट्टीकियां लेने लगा ।

थोड़ी देर में अरवास ने फिर आ कर कहा—“अलिप, मैया, शाना
खराब हुआ जा रहा है ।”

“जा पर कद दो, मैं इस वक्त खाना नहीं खाऊँगा ।”

“क्यों, मैया ?”

“इस वक्त कुछ खाने की इच्छा नहीं है ।”

“तबीमत बगड़ी नहीं है क्या, मियाँ ?”

“नहीं, तबीमत तो बगड़ी है ।”

“फिर थोड़ा सा खा न अलिप, मैया ?”

आविद ने कोई उत्तर नहीं दिया । थोड़ी देर तक अरवास चुपचाप
बैठा रहा, फिर कुछ उदास हो कर कमरे के बाहर चला गया । क्या
यह वही आविद है, जिस पहले अरने संकाश्य का हस्ता खराब रहता
था कि जेल में शाना प्रभाव मिलने के कारण अधिकांशियों से अरसर
बड़ा था, अनशत वक्त किया था ?

(३)

उस दिन जब अमीना आविद को द्वार पहिचाने गई थी, तो उसके
दिल में उस शाना देश मेवक का सम्मान करने ही का प्रयास था ।
जब वार राजपूत सैनिक रणभंग की खोर धारों के द्विपे रौपार होने
लगते थे, या रणभंग से विजय प्राप्त कर घर आते थे, तो उनकी और
स्त्रियों अपने हाथों से उन्हें शिराशर परहिगानी थी, देगारी पर सन्तु
लगाती थी, मुद्वल से आरती करती थी ! अमीना ने उस दिन उन्हीं
भाषों की प्रेरणा से आविद को द्वार पहिचाना था, जो उन राजपूत
द्वियों की आन्दोलित करते थे । अमीना आविद की दिल में इतना
करती थी । यह प्रयास उस वक्त पैदा हुआ था, जब आविद के मकान
को पुलिस ने घेर लिया था । अमीना ने अपने मकान की छत में
देखा था, कि आविद ने किम प्रवेक्षता से घर से निकल कर अपने
का पुलिस के हवाले कर दिया था । उस समय उसका मुख मण्डल
कैसा मफुल था ! वही चित्र अमीना के हृदय में असी कद अचिज
या । एकान्त में उसी चित्र की छाया हृदय से निकल कर अरबाई की
के सामने आ जाती थी ।

सुदधि टपकती थी । पर

की संज्ञा ही की
ई ईशा था ! उसका

बढ़ सुगरित खम्बा शरीर, भीगती हुई रेतें, मुख-सफेद रंग ! और वह सरल विनोद ! अमीना समझती थी, आबिद आदमी नहीं प्ररिस्त है। अमीना के हृदय में भी राष्ट्रीय भावों का विकास होने लगा। उसने चर्खा खातना और गहर पहिनना शुरू किया। सहेलियों के साने, बार की माराजगी, मौ की भिदकी आदि उतने सब कुन सह लिया; लेकिन गहर के सिवा और कुछ पहिनना मंजूर न किया। आदिर आबिद की विहाई का समय निकट आ गया। अमीना ने अपने हाथ के काते हुए मृत से एक द्वार बनाया। यह वही द्वार था, जो आबिद के गले में पड़ा था, जिसने उसके दिल को किसी के दिल का नेद सुनाया था। अमीना की ज्ञानन धगर बयान करती, तो शायद इस मूर्ख से बयान न कर सकती।

उस दिन की मुलाक़ात के बाद अमीना के मन पर वे भावनाएँ आधिपत्य जमाने लगीं, जिन्हें वह अभी तक हृदय के अन्तस्तर में दबाये रखने का प्रयत्न करती रहती थी, अिनकी उपरिपति के ज्ञान ही से उसका नारी हृदय एक प्रकार की धमा से भर जाता था। हाँ, उसके सरल, मावुक हृदय पर उन्ही मादक भावनाओं का रंग बढ़ने लगा।

(४)

आबिद के हृदय में एक विशिष्ट समाप्त दिया हुआ था। एक और या कर्त्तव्य दूसरी और प्रेम। कर्त्तव्य कहता था—यह सौंदर्य और प्रेम के राग अलापने का समय नहीं, काल की मति और देश की परिस्थिति देख कर चलना ही प्राणिमात्र का धर्म है। प्रेम की लहर को दबाओ, और अपने धरमानों को देश की खलि-वेदी पर भेट चढ़ा दो। किन्तु प्रेम वह जादूगर है, जिस पर कोई मन्त्र नहीं चलता ! यह काजा है जिसके आगे चिराग नहीं लखता !

कॉलेज के कार्य-क्रम-सम्बन्धी प्रचार के सिखसिखे में, इन दिनों आबिद देहातो में दौरा कर रहा था। सारे दिन एक प्राम से दूसरे प्राम जा कर अन्याय-पीड़ित ग्रामीणों की दुःख गाथा सुनना, उन्हें सान्त्वना देना, कॉलेज के नियम समझाना, मेम्बर बनाना, चर्चा कानने और गहर पहिनने का आदेश देना, यही उसका नियम का कार्य-क्रम था। दिन तो इस तरह बीत जाता था, लेकिन रात काटे नहीं कटती थीं। एकान्त सुखद अवसर होता है, किन्तु बाग़ परिस्थितियों में

नहीं। एकाम्त से कहरना को यही उत्तेजना मिलती है। सोई हुई कामनाएँ जाग पड़ती हैं, और फिर उनसे जान झुझाना कठिन हो जाता है।

रात के ग्यारह बज चुके थे। चारों ओर निर्मल चाँदनी छिंटकी हुई थी। घंटेभर से चारपाई पर पड़ा आविद करवटें बदल रहा था, लेकिन उसकी आँखों के लिये नींद कहीं थी? बहुत देर से एक ही प्रकार की आँतें सोचते-सोचते अब उसका जो ऊँच गया, तो वह उठ खड़ा हुआ, और सामने के बाग़ की ओर चला दिया। आम के पेड़ों की छाया में आविद धीरे-धीरे टहलने लगा। सारा बाग़ आम के बौर की भीनी-भीनी सुगन्ध से थसा हुआ था। एक ओर एक कोयल कूक उठी। वह सुगन्ध-सिक्त वायु-मण्डल कोयल के मधुर कण्ठ-स्वर को विकल खहरों से भर गया। उसी की प्रतिध्वनि आविद के हृदय में भी गूँज उठी। इतने में किसी ने यह चैती गाना छेड़ा—'नाहीं भूले तुम्हारी सुरतिया हो रामां!...' दिव आम कर आविद एक पेड़ के नीचे बैठ गया। उसे ऐसा शांत होने लगा, मानो उसी के दिल से यह आवाज़ निकल रही हो—'नाहीं भूले...' उसका हृदय उस पक्षी की भँति फड़फड़ा रहा था, जिसे ग्याध ने पर काट कर छोड़ दिया हो! उसे चारों ओर निराश्रय और विवशता नज़र आने लगी। यही देर तक धूल-गर्द-भरी जमान पर आम के पेड़ के सहारे, आराम-विरमृति की दशा में आविद बैठा रहा। सहसा वह उठ कर रेशन की ओर चल दिया। उसने सोचा—'देवी का दर्शन न पा सकूँगा, न सही, उसके दरवाज़े पर माया तो टेक ही थाऊँ।'

दो मील का रास्ता काट कर जब आविद स्टेशन पहुँचा, तो यहाँ बिल्कुल सुनसान था। स्टेशन के चरामवे में कैरोसिन-लेम्व का चीट प्रकाश फैला हुआ था। हाँ, सुकिंग-आफिस के चयसुले दरवाजे से तेज़ रोशनी निकल कर पक्के प्रशं पर पड़ रही थी। दरवाज़े के सामने जा कर आविद ने देखा, अन्दर नाक की नोक पर चरमा लगाये हुये एक बाबू कुड़ लिखा रहे थे।

"मैं अन्दर आ सकता हूँ, जनाव?"

नज़र उठा कर बाबू ने आविद को प्यान से देखा, और प्रश्न किया—
"कहिपु?"

आविद ने कमरे में प्रवेश किया।

"आदाब-अज़ा!"

“आदाब-अर्ज़ !” बाबू आबिद के घेहरे की ओर अरन-सूचक दृष्टि से देरने लगे ।

“इस वक्त शहर की जानिब जाने वाली कोई गाड़ी मिछ सकेगी, जनाब ?”

“इस वक्त ? नहीं साहब, अब इस वक्त तो कोई गाड़ी नहीं जायगी । अब आप को सुबह सात बजे गाड़ी मिलेगी ।” सामने खुले हुए रजिस्टर पर दृष्टि जमा कर बाबू साहब ने दावात में कलम डुबोई ।

आबिद ने सामने दीवार पर लगी हुई घड़ी पर दृष्टि टाकी—एक बजने में पौंच मिनट बाकी थे ।

“तो फिर—अच्छा, आदाब-अर्ज़ !”

“आदाब-अर्ज़ !”

दमरू से निष्कल कर आबिद एक खंभे के सहारे, घेतनाशून्य-सा, खड़ा हो गया । उसके चारों ओर नैराश्य ही नैराश्य भङ्गर आने लगा ।

आबिद प्लेटफार्म पर धीरे-धीरे टहलने लगा । इस तरह वह कितनी देर टहलता रहा, इसका उसे ज्ञान न था । उसकी वह अद्वैत-चेतना की दशा, उस समय भग हुई जब परिधम से आनेवाली एक माळगाड़ी का प्रतिद्वन्द्व बढता हुआ घड़-घड़ शब्द दिशाओं में गूँजने लगा । गाड़ी रुक गई । एक हाथ में लालटेन जिये हुए, गाड़ी साहब प्लेटफार्म पर उतर पड़े । आबिद ने समीप जा कर सलाम किया ।

सलाम का जवाब देते हुए, रुक कर, गाड़ी ने आबिद की सिर से पेर तक ध्यान से देखा ।

“मैं यही मुश्किल में पड़ गया हूँ । जनाव, क्या मेरी मदद करेंगे ? मुझे एक बड़े जरूरी काम से इसी वक्त इत्ताहावाद जाला है । अगर अगर मुझे भी अपने साथ लेते चलें, तो बड़ी इनायत होगी ।”

“आपको भी लेता चलूँ ? अच्छा... देखिये... अच्छी बात है, बैठ जाइए ।”

“शुक्रिया ! जनाब ने वाइई इस वक्त मेरे ऊपर बड़ी इनायत की ।” आबिद ने छपक कर ‘मेक धान’ में प्रवेश किया, शांति की साँस ली, किंतु एक ओर बेंच पर बैठ गया । हृदय वेदना कुछ कम हो गई ।

थोड़ी देर में गांधी चलने लगी। गांधी साहब ब्रेक-यान में थप कर, दरवाजे के सहारे बाहर खटक कर, लाञ्छटेन हिलाने लगे। जब स्टेशन दूर निकल गया, तो उन्होंने लाञ्छटेन पुरु और रख दी, और बेंच पर बैठते हुए कहा—“आप तो शायद कांग्रेस में काम करते हैं ?”

“जी हाँ !”

“इधर कैसे आना हुआ था ?”

“कांग्रेस के काम से।”

“क्यों जाना, जैसा गांधीजी कहते हैं, क्या सचमुच साज-भर में स्वराज्य मिल जायगा ?”

“इस बात का फैसला तो हमारे-आपके ऊपर ही मुनहसर है। गांधीजी ने तो सिर्फ यह कहा था, कि अगर हमारे देश में रहनेवाला हर शकस तर्कमवालात करने को तैयार हो जाय, तो हमें एक साज में स्वराज्य जरूर हासिल हो जायगा।”

“अच्छा ! तब तो... समझने में तालनी हुई।”

जेब से दियासलाई, और मिगरेट की डिटवी निकाल कर, गांधी महो-दय ने एक मिगरेट जलाई, और धुएँ के गुब्बारे फेंकने लगे। आबिद भी अपने विचारों में मग्न हो गया।

गांधी जब इलाहाबाद स्टेशन पर पहुँची, तो चार बज चुके थे। गांधी से बतर कर, गाँई माइय को एक धार फिर धन्यवाद दे कर, आबिद घर की ओर रवाना हुआ। जब वह घर पहुँचा, तो अरुणोदय की जालिमा दिशाओं में फैल रही थी। सामने युमुक्त जंग का मकान था। आबिद टकटकी घाँव कर देखने लगा। एकाएक खिचकी खुली, और किसी सुंदरी ने अपनी गुलाब-ना चेहरा बाहर निकाल कर पृथे की ओर देखा। सूर्यदेव अभी तक चित्तिज के अरण्य-घंचल में मुख छिपाये हुए थे। घंचल समीर सुंदरी के केशों से अठथेलियाँ करने लगा। यह दरप देख कर आबिद के दिल पर सौँव लोट गया। सुन्दरी ने आबिद की ओर देख कर, मुस्करा कर, गरदन झुका ली। सुन्दरी कोई और नहीं, अमीना थी। आबिद अभी अपनी प्यासी शीलों को तृप्त करने में ही लगा हुआ था कि उसके मित्र आबिद वायु-सेवन के लिये उस ओर आ निकला, और आबिद को देर कर उसके समीर गया। सन्नाम-यलंक के बाद आबिद ने पूछा—“क्यों, भाई आबिद, खैरियत तो है ? कैसे परेशान नज़र आ रहे हो ?”

आविद के जो मैं तो घामा कि वाजिद को सारी कहानी सुना दे
और उमे भरना राजद्वार बना दे, किन्तु राजा ने मुख पर मुहर लगा
दी। विभी ने अम्बर से कहा—'राजे दिख न हो घाऊरों।' उम्बरे
बाब बना कर कहा—'हीरे पर गया था। वहीं से भा रहा हूँ।'

(५)

शानुम के पारदे में भूँद होने के कारण शमा की रोशनी और तेज
हो जाती है। इस शानुम है, मेम शमा। गिर यह होने सुमद्वि है,
कि दिख के अम्बर को जलन मुख मद्ध पर स्थान न हो। वाजिद उद
गया कि इस विकलता के पारदे में कोई भेद अवरण है। उमे गिरगठ
हो गया कि आविद का हृदय अवरण किसी सुन्दरी के मयन पर
दिखा हो गया है। आविद का भेद जाने के लिये उसने कई बार
हजर-उजर के प्ररन किये, किन्तु कुछ न जान पाया। दोनों निकल
सम्बन्धी थे। दोनों की वयस भी उरीज-उरीज एक थी। एक साथ ताकीन
पायी, एक साथ ही गेजे-गूदे। अपने होकर की शीघ्रनीय दशा देख का,
वाजिद को बड़ा बदमा हुआ। अपने गुन रूप से पना लगाया हूँ
किया। अकारण आविद अर्माना के मकान की ओर देखा करता, और
कभी कभी मुन से उठी सौल भाँ निकल जाती। यह देख कर वाजिद
को परीन हो गया कि हॉ-न-हो 'गायके नाम' गिर के पार हो गया।

एक दिन वाजिद आविद के कमरे में बैठा हुआ था। आविद
गुसलाने में था। भेज पर आविद की डायरी पढ़ी थी। वाजिद ने
वापसी उठा जो। दिख ने कहा—'किसी की प्राहवेद थीज देवना मुना-
मिष नहीं, किन्तु कौरूहख उप्र था। वाजिद पन्ने उलटने लगा। एक
स्थान पर लिखा था—'बाह। सुदरवा कैसी गजिभ है। जिनना में
अपने को उसके पजे में दुबाना चादता हूँ, उमकी गिररन मायून
होती जाती है। अमीना, प्यारी अर्माना, तेरी धौलें में कैसा जादू
था। ..' वाजिद ने डायरी बन्द कर दी। उसे ऐसा ज्ञात होने लगा,
माने उसने कोई जुर्म किया हो। आविद स्नान करके आया, तो उसने
आँसे मिला कर बातें करना गुरिख हो गया। दोशर पर सटकी हुई
एक तस्वीर देखते-देखते, आविद से हजाजत ले कर, वाजिद कमरे से
बाहर निकल गया। उसे बार बार यही मालूम होने लगा कि उसने
गुनाह किया है। वाजिद भी आदि इतना ही था। उसके पास भी

दिल था। उसने भी अमीना को देखा था; वह भी उसकी सौम्य मूर्ति का उपासक था। एक बार तो वह ईर्ष्या से जल उठा, किन्तु उसके हृदय में मित्र के लिये जो स्वाम्याधिक स्नेह था, वह प्रबल सिद्ध हुआ। मित्र के लिये वह अपने धरमार्थों का बलिदान कर सकता था। वह सोचता, 'मैं युनहगाह हूँ। किसी के भेद से मुझे क्या मतलब? अगर आविद स्वयं यताना नहीं चाहता था, तो मुझे जानने की क्या जरूरत थी? अपने मित्र के सरल विश्वास में मैंने अनुचित खाम उठाया है। प्रायश्चित्त कैसे हो? हाँ, एक तरीका है। अपने धरमार्थों को मित्रता की बलि-वेदी पर भेंट चढ़ा दूँ, और मित्र के खाम के लिये भरसक प्रयत्न करूँ।'

जब उसका निश्चय टढ़ हो गया, तो एक दिन उसने यूसुफजंग साहब के पास जा कर सारी कहानी कह सुनाई, और उनसे प्रार्थना की कि वे उन दोनों के मार्ग में बाधा न उपस्थित करें।

यूसुफजंग साहब के होश उड़ गये। आप एक सरकारी मुलाजिम थे, असहयोगियों के साथे से भागते थे। पहले आविद के पिता से आपकी बड़ी घनिष्ठता थी; किन्तु जिस दिन आविद असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित हुआ, उसी दिन से आपने उसके घर आना-जाना छोड़ दिया। उन्हें भय हुआ कि अगर अमीना का आविद के साथ निकट हो जाय, तो कहीं उन्हें मौकरी से हाथ न धोना पड़े।

“तो आपने क्या राय कायम की?”

यूसुफजंग साहब सोचने लगे कि क्या उत्तर दें। वह कई घण्टे चुन-चाप करारों की ओर ताकते हुए बैठे रहे, फिर आविद के चेहरे की ओर देखते हुए बोले—“वाजिद साहब, मैं आपके स्वयंसेवा को हजत करता हूँ। मैं धानता हूँ, आप मुझे जो राय दे रहे हैं, वह निहायत दुस्त-राय है; लेकिन मैं इस मामले में मजबूर हूँ। बिना भाई साहब की इजाजत के मैं कुछ नहीं कर सकता। और जहाँ तक मेरा खयाल है, वह कहीं और बातचीत कर रहे हैं।

“तो क्या बिलकुल उम्मीद न की जाय?”

“जी हाँ, बिलकुल मजबूरी है।”

वाजिद निराश वापस गया। अमीना की शादी के बारे में यूसुफजंग साहब अभी तक बिलकुल प्रामोश थे, लेकिन अब यह गई किन्तु सवार हो । 'अमीना की शादी बहुत जल्द कर देनी चाहिये, नहीं तो न जाने क्या-क्या पेश आये।' अन्दर जा कर उन्होंने अमीना के

किया। अमीना की माँ ने कहा—“ठीक तो है। खड़की भी वहीं रहेगी। आबिद भी सभोदा जड़का है। वहीं गार्द्रीक ही शादी हो जाय, तो क्या बुरा है ?”

लेकिन घूसुक साहब को यह बात पसन्द नहीं आई। बोले—“अब अमीना का वहीं रहना मुनासिब नहीं।”

फौरन छुटा ले कर आप अमीना को सहारनपुर अपने बड़े भाई के वहाँ पहुँचा आये। अमीना की माना बहुत रोती चिन्ताती रहती। लेकिन उनकी बात सुननेवाला कौन था ?

×

×

×

कई मास बीत गये। आबिद की दशा दिन प्रतिदिन बिगड़ने लगी। एक तो जेज ही में स्वास्थ्य बध हो गया था, दूसरे थोड़ा अपने ही यह सौदा सवार हुआ। खाने-पीने से अरुचि हो गई, दुर्बलता बढ़ने लगी। हर समय की परेशानी और क्रिक में और भाँ खुला ढाँका। उबर रहने लगा। इलाज शुरू हुआ। लेकिन मरज़ बढ़ता गया क्योंकि दवा का। मर्ग कुछ और था, और दवा कुछ और हो रही थी। दो महीने गुज़र गये, लेकिन रोग किसी तरह न घटा। और अन्ततः कौन ? प्रेम-रोग का इलाज ही कुछ और है। पहले तो कभी-कभी दर्शन ही प्राप्त हो जाता था, लेकिन अब उसकी भी कोई ख़तर न थी। तमाम दवाइयों में केवल एक ऐसी दवा थी, जिससे कुछ न कुछ लाभ थावरय होता था। और वह दवा थी अमीना के हाथ का हार। इसी से हृदय की दारुण, असह्य पीड़ा कुछ कम हो जाती।

(६)

अमीना की शादी तय हो गई। नवाब दरतखार अलों के वहाँ से मैपनी आयी। घूसुक साहब ने मन्ज़ूर कर लिया। अमीना की माँ इस शादी के खिलाफ़ थीं। उनके दिल में बार-बार यही आता कि इसका नतीजा बुरा होगा। उन्होंने बहुत जोर मारा, समझाया, लेकिन उनकी धान किसी ने न सुनी। विवश हो कर इमोश हो गई, और दिन-रात घेरी की प्रेरित की हुआ करने लगीं।

शादी की तारीख़ निकल आ गई, लेकिन अमीना खुश न थी। आबिद की याद ही उसके विरह व्यथित हृदय की संपत्ति थी। सहारनपुर आने पर उसका दिल बहुत बेचैन रहता था। उसी यहादुर नीमवान की ख़तर हर समय उसकी भौंखों में फिरा करती थी। शादी की बात

सोच कर अमीना घबरा उठती। वह सोचती—‘शादी हो जाने के बाद भी क्या मैं आदिद के प्रयास को इसी तरह दिल में जगह दे सकती हूँ?’ जितना शौर करती, सिवाय नहीं के उसे कोई जगह न मिलता। किसी की विवाहिता स्त्री किसी दूसरे पुरुष को, चाहे वह कैसा ही सभरित्र व्यक्ति क्यों न हो, अपने दिल में जगह नहीं दे सकती। वह सोचने लगी कि आदिद को छोड़ कर वह किसी दूसरे की उपासना कैसे कर सकेगी। कभी जो मैं आता, वालिद से माफ़ इनकार कर दे; किन्तु लज्जा मुख न खोजने देती।

शादी का दिन आ गया। सहारनपुर ही में बारात आने वाली थी। बड़ी धूम थी। अमीना के चाचा सहारनपुर के प्रतिष्ठित रहस थे। घर में बड़ी चहल-पहल थी। सभी खुश दिखाई देते थे। लेकिन अमीना को कोई खुशी न थी। आज उसका चित्त बहुत विकल था। आज ही उसकी परीचा का दिन था।

रात के आठ बज गये। बारात दरवाजे पर आई। सब स्त्रियों बारात देखने के लिये घर के बाहरी भाग में चली गईं। अमीना के लिये यह अति उत्तम सुयोग था। संदूक खोल कर उसने कुछ रुपये और गहने निकाले, और पीछे के दरवाजे से मकान के बाहर निकल गई। अमीना मुशकिलता नययुवती थी। उसे अपने ऊपर पूरा भरोसा था लेकिन वह कभी अकेले बाहर नहीं निकली थी। बाहर निकलते ही उसका दिल धककने लगा; किन्तु उसके हृदय में इस समय वह उस्ताह, था, जो विकट-से-विकट बाधा की परवाह नहीं करता। उसकी दशा इस समय उस निरपराध जैदी की-सी थी, जो जेल की दीवार पार कर बाहर आ गया हो, और ज़रा-सी आदत से घबरा उठता हो! और, वह सब होते हुए भी अमीना बड़ी प्रसन्न थी। वह ऐसी तेज़ी से चली जा रही थी कि अपनी तेज़ी पर उसे स्वयं आश्चर्य था।

(७)

अस्पष्ट आशा के जिस कोमल सूत्र से आबिद का रोगी जीवन इतने जोक से बँधा हुआ था, अमीना को शारी की छत्र मुनते ही वह भी टूट गया। यह जीर्ण-शीर्ण जीवन-तरी उस विशाल सड़क की प्रतीति करने लगी, जो उसे अपने बच में आश्रय दे कर शान्ति प्रदान करती। सवेरे से शाम तक आबिद के घर पर उसके द्वितीयियों और शुभचिन्तकों की भीड़-सो लगी रहती। नगर के मायेक हिन्दू और मुसलमान के जिन्ह से उसके लिये दुआ निकल रही थी।

रात के नौ बज चुके थे। पूरे दो घंटे की मूर्छा के बाद आबिद ने आँखें खोलीं। वाजिद सिरहाने बैठा हुआ था। हाथ से इशारा करके आबिद ने पानी माँगा। वाजिद ने एक शीशे के गिलास में पानी दिया। पानी पी कर आबिद ने धीरे स्वर में कहा—“वाजिद, तुम मेरे दिलो दीरठ हो। इसलिये मरने से पहले तुमको उम रात से मुक्तता कराऊँ, जिम्मे जामात से मेरी जिन्दगी और मौत को कथमकथ शुरू हुई। मैं अमीना को प्यार करता हूँ। अब मेरा आखिरी बच आ गया है। देखो, यह द्वार अमीना ने मुझे अपने हाथ से पहनाया था। मेरी यह तमना है कि इस में यह द्वार मेरे गले में हो। मुझे उम्मीद है कि तुम अपने मरने-वाले दोस्त की तमना जरूर पूरी करोगे। भाई, आधे एक घण्टा तुम से मिल लो।”

वाजिद की आँखों से आँसू जारी थे। दोनों दोस्त लिपट कर रीने लगे। फिर एक दिवकी आई, और आबिद हमेशा के लिये प्रामोद्य हो गया। आँखें ज्योतिहीन हो गईं, साँस रुक गई, शरीर टपका हो गया।

आधी रात बीत चुकी थी। किन्तु क्रिस्तान जैसे सुनसान स्थान पर इस समय त्रिचित्र भौंक थी। जो सुनता नगे सिर, गगे पैर पहुँच जाता। आबिद की लाश दफन कर दी गई, कब्रिदा पड़ा गया। लीग धरसोस करते हुए घर लौटने लगे।

क़त्रिस्तान में फिर निस्तब्धता छा गई। आबिद की याद में एक टिमटिमाती हुई शमा आँसू बहा रही थी। इसी घेदनापूर्ण सप्ताह में एक सुन्दरी केश बिखराये हुए आई, और आबिद की क़य से क्षिपट कर बेहोश हो गई। यह कोई और नहीं, वही अमागी अमीना थी।

एक ज़माना गुज़र गया। लेकिन अगर आज भी कोई सवेरे के समय क़त्रिस्तान के बज़ार वाली सड़क पर निकल जाय, तो आबिद की क़य पर कुछ मुर्माये हुए फूल और एक चुम्की हुई शमा हर रोज़ नज़र आयेगी। जन-साधारण का ख़याल है कि आबिद की क़य पर रात को परिशो घा कर नाचती हैं, और वे ही फूल चढ़ा जाती हैं। लेकिन बात कुछ और है। यथार्थ तो यह है कि यह काम शरीब अमीना का है। आबिद के देहावसान के बाद उसने अपना नैराश्रयपूर्ण जीवन देश-सेवा में लगा दिया। दिन-भर सेवा-कार्य में रत रहती है, और रात के समय क़त्रिस्तान में जा कर आबिद की क़य पर अपने हाथ का रूँधा हुआ हार चढ़ाती है, शमा रोशन करती है, और क़भी-क़भी दर्द से भरी हुई कोई गज़ल गाने ली है।

घर

जेल को उस कोठरी को, जिसमें हमने अपने जीवन के मिश्रित रूप मान लिया थे, चाँदिलों वार हमारा नें देव बन, जैसी मित्रों से मिश्र-भेद कर, बीम जेवर के कमरे की ओर चला। इधर-उधर काम में जगे हुए कैदी उमड़ी और हँसो-हँसो, किन्तु बदाय कानों से देव रहें थे। आज यह चला था रहा था—यह, जो मद्रा उग्रा पत्र छेने को तैयार रहता था, जो उनके मेरु कूट में, हँसी-पहा'क में, मद्रा सब में जगते रहता था। ऐसे जिन्हा दिल साथी से किन्तु हमने का मर को रंग या। मर के सखाम का जवाब देता हुआ, यह मन सारे पचा जा रहा था। जग रहा था उने मानो उस छोटे-से संसार का मारी विभूतिर्वा, जिसके जोधा से इनने दिनों पुत्र मित्र कर अपने धरनात्मन हयारित कर लिया था, आज वने कदप दृष्टियों से देख कर पीड़ा के मार को पा रहा हों।

एक दीर्घ निश्वास ली कर, पिछ उठा कर, अपने जेवर के कमरे में प्रवेश किया। जेवर की कटोर मुद्रा उस समय शांत था। बीरु को एक बार सिर-से पर तक देख कर, जेला ने कहा—“जा रहे हो, बीरु?”

“जी हाँ, हुनूर।”

“तुमने मेरी वही विदमत की है।”

बीरु का सिर झुक गया। समीप की छंर लकने हुए चलने लगा—“हुनूर, यह क्या कह रहे हैं ..”

“नहीं था, मुँह देने की बात नहीं कह रहा हूँ। मुझात्मन को तुम्हें २१ लाख हो गये। इस घरमें मैं तुम्हें हजारों कैदियों की निगरान करनी पड़ा है। ज़रूरत पड़ने पर मैंने बहुतों से काम लिया है, लेकिन जित्त मुझवत से तुमने मेरी विदमत की है, किसी दूसरे ने नहीं की।”

“हुनूर, मैंने तो यही किया, जो तुम्हें करना चाहिये था।”

“अब मेरी विदमत कौन करेगा बीरु?”

सिर झुका कर बीरु बोला—“हुनूर की विदमत करने के लिये मैं जैसे हम मित्र जायेंगे।”

“नहीं, तुम्हारा क्याज शकत है।”

दो-तीन घण्टे चुप रह कर, जेजर ने फिर कहा—“अब तुम आजाइ हो। तुम जहाँ चाहो, जा सकते हो; जो कुछ चाहो, कर सकते हो। इसलिये तुम्हें एक सलाह देना चाहता हूँ। देखो, दुनिया में जा कर अमन की हिन्दगी बसर करना। जेल में रह कर इन्सान इन्सान नहीं रह जाता; इसलिये कैद से निकल कर उसकी तपीयत धाम तौर से जुर्म करने की तरफ ही झुकता है। लेकिन दरघण्टे बहादुरी जुर्म करने में नहीं है; बहादुरी है तपीयत को रोकने में।”

“हुजूर, ठीक कहते हैं।”

“तो तुम वादा करते हो कि यहाँ से जा कर भजे आदमियों को बरह रहोगे?”

“जी हाँ, हुजूर।”

“अच्छा, तो अब तुम्हें जाना चाहिये। देर हो रही है। यह लो।” जेज से दो रुपये निकाल कर जेजर ने बीरू की ओर थड़ा दिये।

“हुजूर! सरकार-खर्च तो मिल ही चुका है.....”

“नकर-खर्च तो सरकार की तरफ से मिला है। यह तो मैं तुम्हें दे रहा हूँ।”

“हुजूर ने पहिने के लिये यह सब फरद्वे दिये हैं। अब रुपये भी दे रहे हैं। आपके रिन से मैं कमी दरिन न होऊँगा।”

“ले लो, मनकोष न करो। यों ही दे रहा हूँ, इसे कर्ज न समझो।” रुपये ले कर, हाथ जोड़ कर, बीरू ने कहा—“हुजूर, मुझ से जो गलती हुई हो, उसके लिये माफ़ो चाहता हूँ।”

बीरू के चेहरे की ओर देख कर, जेजर ने सिर झुका लिया। उस समय कुछ कहने की उनमें शक्ति न थी। जेजर के पैर छू कर, प्रणाम कर, जब बीरू बाहर निकला, तो उसकी आँखें डबडबाई हुई थीं।

फाटक खोलते हुए, मंतरी ने कहा—“जाते हो, बीरू?”

“हाँ, भइया।”

“अब तुमसे काहे को भेंट होगी?”

“भगवान् जाने, ठाकुर! मन चीती नहीं होत है. हनि चीती तःकाल।”

“ठीक कहते हो, बीरू।”

फाटक खुल गया। वह बाहर निकला।

“अच्छा, चले आकर । जय राम !”

‘जय राम, महमा ! देखो, हमें भूल न जाना !”

“यह क्या कहते हो ठाकुर ? सगा साथियों को भजा, कोई भूँस सकता है ?”

जागे बढ़ कर, रक कर, मुँह कर, उमने एक बार जेल के फाटक को धोर देखा, और बिदा ली । फिर जेलर के घर में प्रवेश किया । भीतर सहन में शामू खज रहीं थी । बीरू को देखते ही उसकी धोर खपडा । दुर्लभ गोद में उठा कर, वह उसे प्यार करने लगा । बीरू को देख कर, कमरे से निकल कर, शामू की माँ ने पूछा—“तैयार हो गये बीरू ?”

“हाँ, बहूजी ।”

“तुम तो जा रहे हो, अब शामू को कौन खेलायेगा ?”

बीरू के पास कोई उत्तर न था । सिर झुका कर, अपने कमर शमशान-से मन की सारी ममता लेकर वह शामू के उरपुच्छ मुख-भण्डल की धोर देखने लगा । शामू उसकी दाढ़ी के बालों की धरनी नन्हीं नन्हीं धौलियों में लपेने की कोशिश कर रहा था । बीरू की धौलियों में शामू चुलक थाये ।

“राने के धारने कुछ खाना खेते जाओ ।”

“बधा होगा, बहूजी ?”

“नहीं, खेते जाओ ।” रसोई घर में जाकर शामू की माँ एक साक कपड़े में धोड़ी भाजी और पूरियाँ बाँध लाई ।

“अब क्या भाओगे, बीरू ?”

‘कह नहीं सकता, बहूजी ।”

“कमा कभी आकर हाजि पाछ दे जाओ ।”

“हाँ, बहूजी, जरूर आऊँगा । शरुवा, अब चलूँ ।”

शामू को रोद से उतार कर, बीरू ने पोटली ले ली । शामू रोने लगा । उसकी माँ उसे फुसलाने का चेष्टा करने लगी ।

“सन्नाम, बहूजी ।” बीरू शीघ्रता से बाहर निकल गया ।

आज्ञाही की हवा में सौँस खेता हुआ घटोही घर जाने वाली मार्ग पर सुष्परिचय गति से चला जा रहा था । साधारण प्रयास से वहाँ के जीवन में झुल मिल जाने के कारण, परदेस में उसे मुख तो बधेष्ट था, खेकिन घर घर है, परदेस ‘परदस’ ! ‘परदस’ घर की धराधरि

कैसे कर सकता है ? घर की वे सारी विभूतियाँ, जिन से प्रारब्ध ने उसे अनायास ही अलग कर दिया था, आज अपने सम्पूर्ण आकर्षण से उसे अपनी ओर खींचने लगीं। टिमटिमाता हुआ दीरक फड़क-फड़क कर रोशनी फँकने लगा ! मुर्झाता हुआ हृदय खिल उठा। किन्तु मायाविनी नियति अदृष्ट के परदे में बैठी हुई, यटोही का उद्वेग देख कर, मुस्करा रही थी।

दस साज पल्ले की स्मृतियाँ आँखों के सामने आने लगीं—

शाम हो चली थी ! अपने बलिष्ठ सिर पर मवेशियों के लिये करधाँ का एक बड़ा थोक लादे हुए, वीरू अपने उस छोटे से भोपड़े के द्वार पर आया। गटर एक ओर पटक कर, सिर से अँगौछा उतार कर उसने पसीना पोंछा। उस समय वह ऐसा दिखलाई देता था, मानो कोई पहलवान अभी-अभी अखाड़े से निकला हो ! उसके ठमरे हुये सीने, चढ़े हुये बल्लों और भरी हुई रानों से असाधारण पुरुषार्थ का प्रमाण मिलता था। उसका वह स्वस्थ शरीर दरिद्र तो अवश्य था, किन्तु सुखी था। उस गुदिया-सी सुन्दर भोली-भाली स्त्री-रत्न को पाकर, किसी और घरतु की उसे क्या परवाह था ?

अँगौछा कंधे पर रख कर, उसने घर के भीतर प्रवेश किया। अँगन में टाट के एक छोटे-से टुकड़े पर बैठी हुई उसकी स्त्री रूपा-सामने फूल की चमकती हुई धाली में रमे हुये चावल बीन रही थी। काँची, महीन माड़ी से उसके सुकुमार शरीर का कुन्दनी रंग छन-छन कर बाहर निकल रहा था। सिर उठा कर एक बार पति की ओर देख कर, सिर झुका कर, वह फिर चावल बीनने लगी। वीरू का माथा टनका। रूपा के सुन्दर चेहरे पर विपाद की छाया थी, मानो अपनी सम्पूर्ण आभा से चमकते हुये चन्द्रमा पर काले बादल का एक टुकड़ा छा गया हो !

“कैसा जी है रे ?”

रूपा ने कोई उत्तर न दिया। तब वीरू उसके बगल में जा बैठा, और उसके गले में बाँह डाल कर, अपने उस सावन की नदी के समान भरे हुये हृदय का मारा प्यार, सारा उन्माद आँखों में भर कर, उसकी ओर देखता हुआ, बोला—“हसीलिये कहता हूँ, ज्यादा मेहनत न किया-कर ! सिर में पीरा है क्या ?”

पाव करुणा की चोट खा कर जलने

आँखों

में आँसु झरकर धाये। अचरित कथक से कोई शब्द न आकर सच-
पीड़ा से तब कर, बीरू ने उसे अपनी सबल भुजाओं में बाँध लिया।
रूपा की आँखों से आँसु बहने लगे।

“किन्ना से कुछ कहा-सुना भई है क्या ?”—छोटीछे से उसके
आँसु पोंघत हुए, बीरू ने पूछा।

वित्त कुड़ मेंमाज का, पति की मोद में पकी हुई रुग ने भाँपे
हुमे कयड से कहा—“तुम मे कोई बात कहते क्या हर लगता है।”

“बता दे, क्या बात है ?”

“तुम्हारा गुस्ता खराब है। कहीं कुछ . कर बैठो . तो मुकुज आकर
में फैसला हो।”

“गुस्ता उरसा रहने दे। यता तो, क्या बात है ?”

“अभी मय खाल के कुर्मी पर पानी भरने गई थी, तो उनका
करिन्दा बोवी बोजता रहा।”

बीरू को ऐसा जान पड़ा, मानो सुनसान में सहसा किसी ने पोंछे
से उसके निर पर झाड़ी मार दी हो। किन्तु, दूसरे एक वह क्रोध से
कौपने खाता, भुजाएँ खडकते लगीं, नेत्र आग्नेय हो गये।

पति से अलग हो कर, उसके पैर पकड़ कर, रुग ने कहा—“देवो,
गुस्ता न करो। वित्त सँभालो। इसीलिये कहता थी, कुछ न पूछो।”

पैर मुड़ाते हुये बीरू बोला—“उसने क्या कहा ? सब हाल यता
तो है।”

“मैं अपनी डोत कुह्याँ में बाँध रही थी, उसी वकत वह एक मगरा
लिये हुये जगत पर चढ़ आया, और मेरी रस्ती पकड़ कर कहा—‘जाओ,
मैं भर दूँ। तुम्हारे नाचक हाथ बक जावेंगे।’ मुझे गुहसा आ गया।
मैंने कहा—‘देखा, रस्ती छोड़ दो, नहीं तो भपड़ा न होगा। घर में सौ-
बहिन नहीं हैं क्या ?’ मेरे मुँह से यह सुन कर, उसने दृक ऐसी खराब
बात कही, तिमि कहते मुझे शरम आती है। मैंने भी उसे ब्रथ खरी-
खोटी मुकाई, और जल्दी जल्दी पानी भर कर घर चली आई।”—इतना
कह कर पति के चेहरे का भाव देख कर, सहम का, उसने फिर उसके पैर
पकड़ लिये।

‘पैर छोड़ दे रे !’

“नहीं, मैं मुँह कहीं न जाने दूँगी। इस वकत तुम अपने धावे में
जाते हो।”

“देख, छोड़ दे। जरा, भारी दादा के घर जाऊँगा। उन साले कारिन्दे से अभी मैं कुछ न बोलूँगा!”

“मेरी सौगंध खा कर कहो।”

हृदय की उम्र उत्तेजना को रोक कर, परधर के समान बन कर, बीरू ने कहा—“तेरी सौगंध, कोई ऐसा-वैसा काम न करूँगा।”

तब रूपा ने पति के पैर छोड़ दिये। नशे में चूर शराबी की तरह लड़खड़ाता हुआ बीरू घर से बाहर निकल गया।

दस दिन बाद की बात है। उस समय पूर्व में तारिका-जटिल विराट् गगन की झुलमलानी हुई चादर की कोर उठा कर उपा मुष्कराने लगी थी। गाँव के ताजाब के किनारे शौचादि से निवृत्त हो कर जब बीरू घर पहुँचा, तो उसे बाहर का दरवाजा खुला मिला। बाहर जाते-समय उसने रूपा से किवाड़ बन्द कर लेने को कहा था। फिर उसने बन्द क्यों नहीं किया? शायद सो गई; उस समय वह नींद में थी। उसने अन्दर जा कर देखा, रूपा की खाट जाली पड़ी थी। घर में वह कहीं न थी। इतने सवरे वह कहीं चली गई। शायद वह भी शौचादि के लिये गई हो। रूपा की खाट पर बैठ कर वह उसकी प्रतीक्षा करने लगा। निद्रा का फिर आक्रमण हुआ, भ्रमकियाँ घाने लगीं। तब वह खाट पर पैर फैला कर सो गया।

जब उसकी नींद टूटी, तो दिन चढ़ आया था। लेकिन रूपा उस-समय भी घर नहीं लौटी थी। बीरू का हृदय अज्ञात आशंका से काँप गया। तुरन्त घर का दरवाजा बन्द करके वह उसे ढूँढ़ने निकला। गाँव में गली-गली घूम कर उसे खोजा, पर उसका कहीं पता न था। चारों ओर खलबली मच गई। अन्य ग्रामों में रहनेवाले अपने नातेदारों के घरों पर जाकर उसने पूछ-ताछ की, लेकिन रूपा कहीं न मिली। तब अपने हितैषियों की सलाह से धाने पर जाकर उसने रिपोर्ट लिखाई। रिपोर्ट लिख कर धाने वाले निश्चिन्त हो गये।

उपर्युक्त घटना के एक सप्ताह बाद एक दिन सवरे मुरादपुर तहसील के धाने में बड़ी भीड़-भाड़ थी। धाने का भहाता दशकों से भरा पड़ा था। बीच में धाने के दोनों दारोगे, बर्दियों पहिने, कुर्सियों पर बैठे थे। सामने बीरू रस्ती से बँधा पैठा था। उसके समीप घूँघट काटे, सिर झुकाये, रूपा बैठी हुई थी। एक ओर सक्केद चहर से ढँकी हुई एक आरा रखी थी। इपर-उपर कांटेखिल और आस-पास के ग्रामों के

निवासी लड़े हुये थे। योरू ने अपने बयान में कहा—“जब मेरी घरवालों मेरी गौर हाजिरी में घर से नायब हो गई, तो मुझे जाला (मुसी हशमतनाथ) के जिलेदार, रघुनाथ साहाय, के ऊपर शक हुआ था। उस दिन थाने में मैंने जो रिपोर्ट लिखाई थी, उसमें मैंने यह बात ज़ाहिर कर दी थी। जिलेदार साहाय का पता लगा कर, जब मैं उनके पास पहुँचा, और उनके पैर पर पगड़ी रख कर चिनती की कि मेरी जोरू मुझ लौंग दी जाय, तो यह कह कर कि मैं उनके ऊपर भूदा इलजाम लगा रहा हूँ, वह मेरे ऊपर बहुत लज़ा हुये और मुझे मारने की धमकी दी। रो-पीट कर मैं चला आया, लेकिन मेरा शक रफ़ा न हुआ। तब से टोह लगाना हुआ, मैं बराबर इधर भारा भारा किरता रहा। फल शाम को मुझे पता लगा कि जिलेदार ने मेरी जोरू को सैदाबाद में ले जा कर रखा है। यह खबर पाते ही मैं अपने एक साथी को ले कर सैदाबाद के लिये रवाना हुआ। रात दस बने का थमल होगा, जब हम सैदाबाद पहुँचे। उस समय गाँव में सोना पड़ गया था। लुकते क्षिपते हम उस मकान के पास पहुँचे, जहाँ मेरी लुगाई रूपा बन्द थी। उस मकान के सामने जिलेदार के दोनों सिपाही तम्बाकू पी रहे थे। सामने से घुसना मुमकिन न था, इसलिये हम दोनों मकान के पीछे गये। पीछे दीवार से छगा हुआ एक नीम का पेड़ मिला। अपने साथी को नाचे मुस्तैद लड़े रहने की ताकीद करके, मैं उस नीम के पेड़ पर चढ़ने लगा। कुछ ऊपर जा कर सामने एक ढाल छप्पर से थोड़े फ़ासले पर फँसी हुई दिखाई दी। उस ढाल पर जा कर, मैं पीरे से छप्पर पर उतर पड़ा। फिर दूरे पाँव छप्पर के किनारे तक जा कर अँगन में कूद पड़ा। अँगन में लड़े होकर मैंने देखा, सामने दालान में एक जालटेन जल रही है, और जिलेदार साहाय एक शाय पर बैठे हुये मेरी तरफ़ घूर कर देख रहे हैं। लाठी लेकर वह मेरे ऊपर गपटे। उन्होंने धार किया। मैंने प्रार्थना दिया, और पीछे बाहर फ़रार पकड़ कर उन्हें ज़मीन पर पटक दिया। फिर लाठी छीन कर एक तरफ़ पँक ही। हम दोनों गुप्त गये। एकएक उन्होंने मेरी पीठ में दौत चुभो दिये। पंच लगा कर मैं उनके सीने पर सवार हो गया। उन्होंने मेरे ऊपर थूक दिया। तब टेंट से दुरा निकाल कर मैंने उनका गला काट डाला। इसी क्षण सामने की कोठरी से रूपा के कराइने की आवाज़ आई। कोठरी में बाहर से साँकल खगो हुई थी। जालटेन

खेकर दरवाजा खोल कर, मैं कोठरी में घुमा, सामने एक खाट पर रुना पड़ी थी। उसी हालत बिलकुल बिगड़ी हुई थी। मुझे देख कर वह रोने लगी। उसे साथ खेकर मैं कोठरी से बाहर निकड़ा। सामने दरवाजे पर घमाघम चोटें हो रही थीं। शोर भी हो रहा था। लाठी सँभाल कर, मैंने दरवाजा खोल दिया। कई आदमी एकनाथ चन्द्र घुस आये। वह मेरी तरफ लपके, मैंने भी लाठी तानी। फिर मैं गिरफ्तार हो गया। इस काज का मैं थकेले जिम्मेदार हूँ। मेरे साथी का उसमें कोई हाथ नहीं है। उसका नाम मैं नहीं बता सकता। रूरा से मुझे मालूम हुआ, कि उस दिन तड़के जब मैं घर से बाहर चला गया, तो दरवाजा बन्द करके वह खाट पर पड़ रही थीर सो गई। एकाएक उभे ऐसा जान पड़ा कि कोई उसकी खाट के पास खड़ा है। उसने आँखें खोल कर देखा, खाट के पास कई आदमी खड़े हुए काना-फुपी कर रहे थे। हाथ-पैर बाँध कर, मुँह में कपड़ा ठुँप कर वे उभे उठा ले गये।

धीरू के बाद रूरा और अन्य कई ब्यक्तियों के घयान लिये गये। उसी दिन चाखान हुआ। मैजिस्ट्रेट ने उसे सेशंस सुपुर्द किया। सेशंस जज ने कालेपानी की सज़ा दी। हाई कोर्ट में सजा घट कर दस वर्ष की सज़ा कैद रह गई।

(३)

जेज में रूरा बेवज धार धार धीरू से मित्रने आई थी। पहले साल एक बार, दूसरे वर्ष दो बार, तीसरे साल एक बार। तब से धीरू को उसकी कोई खबर नहीं मिली थी। उसे तो पढ़ भी पता न था कि रूरा जीवित भी है कि नहीं; किन्तु उसका मन विश्वास दिलाता था, रूरा जीवित है। पता नहीं, उस से भेंट होगी कि नहीं।

प्रयाग रखवे स्टेशन की ओर जाते समय, यहाँ पहुँच कर टिकट लेकर गाड़ी की प्रतीक्षा करते समय, रेल के उस थोड़ी दूर के सत्र में धीरू बराबर रूरा की बात सोच रहा था। घर का स्टेशन था गया। गाड़ी से उतर कर, टिकट यात्रु को टिकट देकर, स्टेशन से बाहर निकल कर, वह घरमें गाँव की ओर चला। उस समय संस्था की सत्रेदी कमरा खुलती होती जा रही थी। वनेरा खेते हुए परिषों का कहर भी मंद पड़ता जा रहा था। तार खींच कर धीरू पगडंडी पर चढ़ने लगा। आज उन सुररिचित खेनों और बागों में चढ़ते हुए उसे पीता ही सावन्ध अनुभव होने जैसा उस समय प्राप्त होता था, जब लड़कन में

मैं मोद में खेहर उने प्यार करने खगती थी ! उम सेनो और बागो में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था । यह रामने पाँच का साक्षात् त्रैवा-का-तैमा दिखाई देता था । उपर यह टावर का पसा कुर्मी भी उठ वैया ही मीनूर या जैवा दस वर्ष पहले था । तो उसके घर में क्या कोई परिवर्तन न हुआ होगा ? क्या क्या बदला न होगी ? उसके बाहर तो अवरप पक खो होंगे । पार्श्विक क शरीर पहुँचो होगी । क्या घर पर मिलेगा कि नहीं, कौन जाने । उसने कृम तंग कर दिये ।

गाँव सामने आ गया । साधो घड़ी के घर के सामने एक खाट पर दो तीन आदमी बैठे हुए शर शर कर रहे थे । गाँवके रंग का यह जवान कौन है ? शायद साधो का बड़ा बड़का है । बहुत धवा हो गया ! इधर से आता तो ठीक न होगा । दूसरी पगटपरी पर मुद कर यह अपने घर की ओर खड़ा । उसका हृदय वेग से धड़कने लगा । दक कर, चित्त संभाज कर वह फिर आगे बढ़ा ।

घर के निकट पहुँच कर उसने देखा, बाहर खेंगेग धापा हुआ था । घर के सामने का यह नीम का पेड़ त्रैमा या वैया ही खड़ा था । शयूतरा भी वैया ही था । हाँ, इधर उधर मिर्च कुरुर विराक गई । संभाज-संभाज कर पैर रखते हुए, आगे बढ़ कर, टगोज कर, उसने देखा, घर के दरवाजे पर ताकी खटक रहा है ! उस कगेर आधान से आहत होकर वह वहीं दावान में कर्मान पर बैठ गया । दो विमगादक उसके कान के पास से उड़ कर निकल गई । क्या कहीं खर्चा गई ? हयो जगिज प्ररन पर उसका मधिप्य निर्भर था, किन्तु इससे हल करने में उसका मक्तिरक अममय सिद्ध हुआ । थोड़ा देर तक वह वहीं मूर्च्छित बैठा रहा, फिर उठ कर भारी चौधरी के घर की ओर खड़ा ।

अपने सात्र-सुपर भौवई के सामने नारियल मुँद में लगाये हुए भारी चौधरी एक खाट पर बैठे हुए थे । धोती के अतिरिक्त चौधरी के शरीर पर और कुछ न था । गिर और मुँजों क बाज मन को शरह समेद हो गये थे । चेहरे पर मुरियाँ पद गई थीं । छाँसों की रोशनी घट चली थी ।

“चौधरी दादा, जय राम !”

नारियल मुँद से हटा कर, स्मृति पर जोर देते हुए आँखें पटक कर रेंडी के तेज के उस मद प्रकाश में चौधरी उसे पहिचानने की कोशिश करने लगा ।

“जय राम ! कौन हो, महया ? तुम्हें पहिचान नहीं सका । थम राठ में जरा कम दिखाई देता है ।”

“मैं हूँ, दादा, बीरू ।”

“बीरू ! चाधो घेठा, चाधो, घैठो । जेहल से कय छूटे ?”

“घाज ही तो छूटा हूँ, दादा । सीधे चला आ रहा हूँ ।”

“बहुत अच्छा किया, घेठा । तुम तो पहिचाने ही नहीं जाते हो ! दादी क्यों रन्न ली, घेठा ?”

“ऐसे ही, दादा । धीर सब कुशल-मंगल है ?”

“सब कुशल-मंगल है, महया । अपना हाल-घाल कहो । नीमर को माई रे ! चल देख, बीरू छूट कर आ गया ।”

एक चय में एक घृद्धा सिर हिलाती हुई बाहर निकली, और अपनी निस्तेज आँखों से बीरू का ओर देखने लगी । बीरू ने तुरन्त उठ कर घृद्धा के पैर छुए ।

“जीते रहो, घेठा ! अभी चले आ रहे हो क्या ?”

“हाँ, दादी, अभी आ रहा हूँ ।”

बीरू खाट पर जा बैठा । घृद्धा खाट के समीप जमीन पर बैठ कर हाल-वाल पूछने लगी । बीरू उन दोनों के सवालों का जवाब तो दे रहा था, किन्तु उसका मस्तिष्क एक दूसरे ही प्रश्न में उलझा हुआ था । ‘रूप-का हाल इन लोगों से कैसे पूछूँ ? सहसा घृद्धा बोली—“अपने घर भी गये थे, घेठा ?”

“हाँ, गया तो था, दीदी; मुझ वहाँ तो ताला लगा है ।”

“हाँ, घेठा ! क्या करोगे, जो भाग में लिखा होता है; वह हो कर रहता है !”

बीरू का हृदय काँप उठा । उद्वेगपूर्ण कौतूहल से उत्तेजित हो कर उसने कहा—“सारा हाल साक-साक बता दे, दादी । बधा जस मानूँगा ।”

“वह सब पीछे सुन लेना, घेठा,” चौधरी ने कहा—“पहले कुछ खा-पी लो ।”

“नहीं, दादा, अभी भूख नहीं है । सहर से खा कर चला आ । हाँ, दादी बता दे ।”

घृद्धा ने सिर हिलाते हुए कहा—“कुछ न पूछ, घेठा ! तेरे घर पर पाँच बरिस से ताला मूत्र रहा है । रुनिया बैरनाथ के नीचे बैठ गई ।”

जिसके किये तूने इतना कजेस सदा, जेइल काटा, वह पेसी कुजबिधनी निकली ! कैसा कलयुग जगा है ! हे भगवान् ! हे भगवान् !”

बीरू को ऐसा जान पड़ा, मानो किसी ने खीजता हुआ विप उसके कानों में ढाँस दिया हो । उसके बीहड़ उर-प्रदेश में एक तूफान भयंकर वेग से उठ खड़ा हुआ । उसकी वह वि-प्रेषित ममता तूफान में हिलोरें खे-जे कर चोत्कार करती हुई ताएडव-नृत्य करने लगी ।

“जाने दो, बेटा ! क्या करोगे ? दुनिया की यही रीति है । अब आ गये हो । घर, सँभालो, दूसरी सगाई कर लो ।”

बृद्धा के सपर्युक्त चारणों का एक शब्द भी बीरू न सुन पाया । स्तम्भित, चित्र-जिहित-सा वह थोड़ी देर तक निस्तब्ध बैठा रहा । फिर उसने किसी खोये हुए की तरह धीरे से पूछा—“वैजनाय आज-कल कहाँ रहता है, दीदी ?”

“मीरमपुर में रहता है, बेटा । तुम आ गये, भइया, यह बहुत अच्छा हुआ । अब पुरुषों के घर में चिराता तो जलेगा ! हम लोगों का मन भी लगा रहता था । अब तक जियेंगे, तुम्हें आँखों से देख तो लिया करेंगे ।”

बीरू उठ कर खड़ा हो गया । चौधरी ने तुरंत कहा—“कहाँ जा रहे हो, बेटा ? बल्लो, भोजन बना कर खा-पी लो । फिर जहाँ जाना हो, जाना ।”

“हाँ, बेटा, मैं अभी सब ठीक किये देती हूँ । भोजन चटपट बन जायगा ।”

“नहीं, दीदी, मुझे भूख नहीं है । ज़रा थीर लोगों से मिल आऊँ ।”

चौधरी ने बीरू के मुख की ओर देख कर कहा—“अच्छा, आज्ञो, भइया । जरूरी लौट कर आना ।”

जल्दी-जल्दी इदम बढ़ता हुआ बीरू सामने अंधकार में खोप हो गया । आरी चौधरी ने सिर हिलाते हुए कहा—“नीमर की माई, बीरू बना अभागा है !”

“.....”

“.....”

“सब धान चाईस पनेरी नहीं होता !”

(४)

दोपहर का समय था। बीरू ने भीखमपुर में प्रवेश किया। इस समय उसही दया विज्ञकुल बावले की-सी हो गई थी। फल रात से अब तक उसने केवल ही धार जल पिया था, किन्तु घघ का एक दाना भी उसके मुँह में न गया था। शामू की माता ने पूरियों की जो पोतल्लो दी थी, वह उसके घर के बाहर दाजान में पड़ी हुई थी। नौद का भी कहीं पता न था। उसे ऐसा जान पड़ता था, मानो जोरों का नया चक्र हो।

मिठी के एक साधारण झोपड़े के सामने पहुँच कर बीरू ने आवाज लगाई—“वैजनाय महतो हो !”

किमी ने उत्तर न दिया। उसने फिर आवाज लगाई, लेकिन फिर जवाब न मिला। तब वह इधर-उधर देखने लगा। सहसा उसे ऐसा जान पड़ा, मानो कोई उसकी ओर देख रहा हो। उसने मुड़ कर देखा—अधखुले दरवाजों की आड़ से कोई उसकी ओर देख रहा था। आगे बढ़ कर उसने गौर से देखा, वह रुग था।

“रुग !”

सिहर कर, भय से काँपती हुई, रुग दरवाजों से हट कर भीतर चली गई। तब धड़के से दरवाजा खोल कर उसने अन्दर प्रवेश किया। अँगन में एक ओर खड़े हो कर उसने देखा—एक खटोले पर दसनी के ऊपर दो वर्ष का एक बालक सो रहा था। खटोले के समीप खड़ी हुई रुग उसकी ओर भयातुर आँखों से देखती हुई धर-धर काँप रही थी।

“रुग !” उसके आन्दोलित हृदय का सारा रोप, सारी अक्-खेजना, सारी पृथा, सारी वेदना, मानो इस एक शब्द में अंतर्हित हो गई थी।

भरत कर रुग बीरू के पैर से खिच गई, और फूट-फूट कर रोने लगी।

“पैर छोड़ दे। अब रोने से क्या होगा ? मेरे कलेजे में तो तुने घाव कर ही दिया !”

रुग ने पैर न छोड़ा, और जोर-जोर से रोने लगी।

“रुग, देख, अब पैर छोड़ दे।” जैसे-जैसे हुई धरी ने सहसा

अपना हाथ मारा।



पैर छोड़ कर, अक्षय हट कर, रूपा स्निग्ध झुकाये हुये शॉन्स पहाने लगी।

“तूने ऐसा क्यों किया रे ? क्या मैं मर गया था ?”

रूपा कुछ न बोली। हृदयकार में घड़ाएँ, अति तीव्र वेग से उमड़ने लगीं। अधः दृष्टि जोर पकड़ गई।

“बोलती क्यों नहीं रे ? जवाब क्या कह गई है ?”

शुभ रहना अब उचित न था। रूपा ने अचरित कण्ठ से कहा—
“अगर मैं... मैं ऐसा न करती... तो मुझे बजार में बैठना पड़ता ! इज्जत बचाने का... और कोई... उपाय न था !”

नये में चूर शराबों के ऊपर घड़ीं जब पड़ गया ! जेब में पड़ा हुआ हाथ बाहर निकल आया। बीरु मंत्र मुग्ध सा खड़ा रह गया। अपनी शॉलों के सामने से एक परदा-सा हट गया।

उसकी शॉलें सहसा सटोपी पर सोते हुए शिशु की ओर गईं। वह स्वप्न देवता हुआ मुस्करा रहा था। उदासीन संख्या की भाँति उसका हृदय भी मुस्कराने लगा ! जो सुख का अधिकारी नहीं, उसे... उसे हस्तक्षेप... था, जिसने... था। उसने उसके साथ विश्वासघात अवरय किया। रूपा ने भी उसे धोखा दिया। उन हीनों से बढ़जा होने के विचार से ही वह यहाँ आया था, किन्तु प्रतिकार अब उचित न जान पड़ा। धुरी लक्ष्य कर रह गई।

पके-अधपके बालों से घिरे हुए अथेव रूपा के विषादपूर्ण मुखमण्डल को ओर एक बार देख कर, मुड़ कर, वह दरवाजे की ओर चला।

“टहरो, कहाँ जा रहे हो ?”

वह शीघ्रता से बाहर निकल गया। दरवाजों के पास जाकर, रूपा शॉन्स पहानती हुई उस ओर तेज़ी से जाते हुए अपने भूतपूर्व पति की ओर देखती रह गई। उसकी शॉलें रो रही थीं, हृदय भी रो रहा था। उसका वह खोया हुआ, सुन्दर, मनोमुग्धकारी अतीत मूर्तिमान होकर आज यो अनायास ही उसके जीवन में आकर खला जा रहा था। फिर उसका हृदय क्यों न रोता ?

(५)

अपर्युक्त घटना के पाँच दिन बाद की बात है। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट

के इजलास में बीरू, हथकड़ी पहिने, तिर झुकाये, कठघरे में खड़ा हुआ था। उसके चेहरे पर शांति व्यक्त थी, प्रसन्नता भी।

अभियोग-पत्र सुन कर अदालत ने सवाल किया:—“तुमने चोरी की है? तुम तसलीम करते हो?”

“जी हाँ, हुजूर!”—अभियुक्त ने तिर झुका कर कहा।

“तुमने चोरी क्यों की?”

बीरू सुरभार खड़ा रहा।

“अभी हाज्र ही में तुम दस परस की सजा काट कर छूटे हो?”

“जी हाँ, हुजूर।”

“तुन्हें और कुछ कहना है?”

“जी नहीं।”

जास्ते की सारी कार्यवाही शीघ्र ही समाप्त हो गई। सरकारी गवाहों से बीरू ने जिरह नहीं की। उसकी ओर से न कोई गवाह था, न वकील। अदालत में भी उसने वकील की दरखास्त न की। आष-घटे में अदालत ने तजवीज़ सुना दी। अभियुक्त को ढाई वर्ष की सख्त सजा मिली। कठघरे से उतर कर, सिपाहियों से घिरा हुआ, बीरू सुश-सुश बाहर निकला।

संध्या के समय जब वह अन्य कैदियों के साथ जेल पहुँचा और जेलर के सामने पेश हुआ, तो जेलर सादस के आश्चर्य का ठिकाना न था।

“बीरू!”

“हुजूर!”

“तुम यहाँ फिर जा गये?”

“हुजूर की खिदमत करने के लिये!”

“मेरी खिदमत के लिये तुम्हारे-जैसे दस मिल जाते!”

“नहीं, हुजूर, जैसी खिदमत आपकी मैं कर सकता हूँ, और कोई नहीं कर सकता!”

“लेकिन, तुमने तो मुझे वादा किया था कि अमन का ज़िन्दगी भर

तुमने तुम क्यों किया?”

के लिये! हुजूर, अगर मैं बाहर रहता, तो मुझे नित करना पड़ता।”

जाम में सजा मिली है?”

"जी हाँ !"

"कितना मात्र हार्थ जगा ?"

"कुछ नहीं, कुछ । मैंने सारा माछ झौटा दिया ।

जैजरा माहय को फिर चारखर्य हुआ ।

"सचदा, यहाँ से जाने के बाद सारा हाज सुनाओ ।"

शवर्ना कथा कइ कर, बोरु ने जैजरा के चेदरे की धार देखा । उनके बाएँ हवहवा गई थी । उसके प्रति उसके दृश्य में सहानुभूति उनइ रहो थी ।

जैजरा के कमरे से निकल कर, जब उसने ब्रह्मते में श्रवेश किया, तो उसके साथी श्रेयो उभे देख कर स्वागत-नाद करने लगे । उस समय बोरु की पैसा जान प्रकने लगा, मानो एक मुद्दा के बाद विदेश से घर झौटा हो । स्वतन्त्रता के संसार में वह धरभार भरा दिख ले कर गया था, लेकिन वहाँ उसके सारे अरमानों का खूर हो गया । चार दिनों की वह आजादी पहाइ हो गई । वह घर, जहाँ से घर की सारी विनूतियाँ उठ गई हों, घर कहलाने योग्य नहीं रह जाता । यहाँ इस परतन्त्रता में उसे वह सब मिश्र जायगा, जिनकी उभे आवश्यकता है । यहाँ परिधम है, कठिनाइयों भी हैं, किन्तु यहाँ वे चिन्तार्ण नहीं हैं, जिनका स्वतन्त्र संसार में उसे सामना करना पडा था । अथ वय की यहाँ कमी नहीं; सतोवित्रोद् के जिसे संगी-साथी हैं, शायु है । हाँ, उसके मनाकिन दृश्य में एक ऐसा अभाव अवरय है, जिनकी पूर्ति यहाँ नहीं हो सकती । लेकिन जाने दो उसकी बात ! वह जो प्राप्त करने के योग्य नहीं, उसकी बात बछा कर क्या होगा ? चिता अज कर राख हो गई ! अब छाक उड़ाने से क्या मिलेगा ?

चार दिन का सुख

मालती फूलों के बीच रहती थी, और फूलों-सी सुन्दर थी। उसके मँझोले, सुगन्धित शरीर में बेला की-सी मधुर सफ़ेदी थी, कपोलों में गुलाब की सी अरुणाई, और आँसों में उस सुन्दर सरोवर की-सी गहराई, जिसमें कमल खिलखिला रहे हों! जीवन चम्पक की भीनी सुगन्ध की भाँति उसके उस लावण्यमय शरीर में अद्भुत मादकता भर रहा था। वह अपना मूल्य जनती थी, किन्तु संसार को भी पहिचानती थी।

वृद्धि माँ के अतिरिक्त उसके कोई न था। फूलों का एक छोटा-सा बाग़ उन दोनों की जीविका का साधन था। मुद्दले के रसिकों की सगृह्य दृष्टि मालती पर पड़ती थी; किन्तु उसके पास उनके लिए उपेक्षा के सिवाय कुछ न था। ऐसी परिस्थिति में पत्नी हुई नवयुवती के लिये उपेक्षा अमूल्य कवच है। लेकिन मनुष्य जब हार जाता है, तो उपेक्षा के भाव का भी अन्त हो कर ही रहता है।

वह दुर्दिन या सुदिन था ही। हुँवा। ध्रावण का मधुर मास था, सवेरे का सुहावना समय। आकाश में घटाएँ भूम रही थीं। अरने बाग़ में मालती फूल चुन रही थी, और गुनगुना रही थी अपनी एक प्रिय कजली—'बाजी, बाजी, वंसी बाजी मधुवन के कुंज में ना, खालिय-पूर्ण स्त्र-खहरियाँ, मन्द, मधुर समीर से दिव-मिल कर, मदमत्त अमरों की गुन-गुनाहट की भाँति, फूलों से अग्नेलियाँ करने लगीं! अंतरा आपा—'गूँ उठी चहुँ और मधुर ध्वनि, बन कन कन में ना—बाजी०'

उस समय ऐसा जान पड़ने लगा, मानो अतीत के वष से निकल कर मधुवन में कूकनेवाली नटवर मोहन की वह आदुभरी वंशी मालती के उस छोटे से बाग़ में सुधा-वर्षा करने लगी हो। दलिया में बेला, चमेली और गुलाब के फूलों का ढेर लग गया था। उधर लगी हुई कदेल की झाड़ी की ओर वह खड़ी। एकाएक सामने कहीं सड़क की ओर उसकी दृष्टि गई। गुनगुना-ना बन्द हो गया, पैरों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। एक स्वरूपवान सुवक मंत्रमुग्ध-सा खड़ा हुआ

उसकी ओर देख रहा था। वह भी उसे एकटक देखने लगी। सहसा दृष्टदल में पैर बढ़ जाने पर मनुष्य आश्चर्य से चौंक पड़ता है, और अपना वास्तविक अवस्था का ज्ञान उसे तब होता है, जब उसके पैर धँसन लगते हैं। युवक मुस्कराया। चेतना लौट आई। मालती की ओर मुक गई। किसी तरह वह भाड़ी की ओर बढ़ी। कंधों, नीलों दीवार पौंद कर युवक थाग में आ गया, और उसकी ओर बढ़ी। समाप्त पहुँच कर, रुक कर, मुस्कराते हुए उसने वह — “तुम इधर कुछ बेधती हो?”

वह सकोप में पड़ गई, कुछ कह न सकी। युवक को किंचिद् अवडेलना का अनुभव हुआ। शिकायत भरे स्वर में वह बोला—“उत्तर दे देने में कोई हर्ज है?”

“नहीं नो,” विपरीत हो कर उसे मोलना पड़ा।

“यह थाग तुम्हारा ही है?”

“हाँ।”

“तुम्हारा घर कहाँ है?”

थाग के एक कोने में बने हुए कोठरे की ओर मालती ने हाथ उठ कर गङ्गेत किया।

“मैं माप हूँ?”

“सिर्फ मैं हूँ।”

“रोजी कैसी खजती है? कूल्हा से?”

“यह सब पूछ कर आप क्या करेंगे?”

“कुछ नहीं। यों ही पड़ रहा था, मारू करो।”

गम्भीर हो कर, वह जमीन की ओर लाकने लगा। मालती ने उस के चेहरे की ओर देखा। दिल-पर डेल लगी। वह बोली—“पूछ और-हार बेध कर ही हमारी रोजी खजती है।”

युवक का मुख-भरद्वय प्रसन्नता से खिल उठा। अयोम अनुरोध-भरे स्वर में वह बोला—“एक द्वार मेरे लिए बना दोगी?”

“हस वक्त नहीं। काफ़ी समय दामेगा।”

“कब तक बन जायगा?”

“शाम तक।”

“अच्छी बात है। मैं शाम को द्वार लेने के लिए आऊँगा। घना रक्षणा।”

“बहुत अच्छा।”

“एक बात और बता दो। तुम्हारा नाम क्या है?”

“मालती।”

“अच्छा, मालती, जाता हूँ।। मेरे कारण तुम्हारे काम में हर्ज हुआ है, माफ़ करना।”

जमीन की ओर ताकती हुई, पैर के घँगूटे से मिट्टी घुरेवती हुई, वह खड़ी रही। मुड़ कर वह चला गया। जब तक वह दिखाई देना रहा, वह उसकी ओर ताकती हुई खड़ी रही। जब वह बाग़ के बाहर निकल गया, तो एक दीर्घ-निःश्वास पीच कर, फूल तोड़ने के लिए उसने हाथ डटाय़ा, किन्तु वह तोड़ न सकी। फूल छूट कर, मानो उसका उपहास करता हुआ, भूमने लगा। हाथ नीचे गिर गया। वह चीँक पड़ी। कोई सुन्दर रंग देखते-देखते जाग पड़ने पर मनुष्य की जैसी दशा हो जाती है, उस समय उसकी भी वैसी ही दशा हो गई थी।

प्रयत्न करके भी वह अपने को रोक न सकी। दूटे हुए सुखद स्वप्न को फिर देखने के लिए जगा हुआ मनुष्य आँखें बन्द करके मोने की चेष्टा करता है। विवश हो कर, वह चहारदीवारी की ओर चली। समीप पहुँच कर, चहारदीवारी से सट कर, वह बाहर इधर-उधर देखने लगी। उधर जहाँ कच्चा सड़क पत्थर की सड़क से मिली थी, परकी सड़क पर पड़ी हुई मोटर की ओर वह युवक धीरे-धीरे चला जा रहा था। पास पहुँच कर, मुड़ कर, एक बार बाग़ की ओर देख कर, वह मोटर में बैठ गया। मोटर चल पड़ी, और अदृश्य हो गई। स्वप्न फिर टूट गया। फूलों से भरी डलिया कमर से सरक कर, हाथ से छूट कर, गिर पड़ा। फूल घास पर बिखर कर खिलखिलाने लगे। किन्तु उसने उन्हें उठाने की चेष्टा न की। एक लम्बी साँस स्तीच कर वह जमीन पर अस्त-व्यस्त बैठ गई, और शून्य दृष्टि से सामने ताकने लगी। कितने ही परिचित युवक आये, और मुँह की खाकर चले गए; किन्तु धाज, एक अपरिचित आया, और उसे इस तरह आन्दोलित कर गया। उसमें ऐसी कौन-सी बात थी, जिसने उसे उसकी दृष्टि में इतने ऊँचे आसन पर बैठा दिया? रूप? नहीं, नहीं! स्वभाव? नहीं, नहीं! चरित्र? इसके बारे में अभी वह क्या जानती है? जो हो, कोई ऐसी चीज़ जरूर है, जो उसके हाथ के शरीर में उसी तरह निवास करता है, जैसे फूल में

"माखतो ! धो माखती !" मोंपड़े से आवाज़ आई ।
 यह चौंक पड़ी । अर्द्ध-पेतभा की दशा भंग हो गई ।
 "धानी हूँ, अम्मो !" उसने विद्वला कर उत्तर दिया ।
 "जल्दी खल ।"

"अच्छा ।"

कतौंग-निष्ठा जाग्रत हो गई । सँभल कर, वह बिशरे हुए पृत्तों को पकड़ करने और दक्षिणा में भरने लगी । फिर पृत्तों से भरी हुई दक्षिणा धो कर वह मोंपड़े की धोर तेली में खली ।

घर के दरवाज़े पर लकी हुई पृत्ता जमी उमकी मतीदा कर रही थी ।

"इमने से फूल चुनने में इतनी देर लग गई !"

"देर हो गई, तो क्या बहूँ ? काम ही तो कर रही थी ।"

"जब मैं तैरी उमिर की थी, तो पाँच मिनट में दक्षिणा भर खेती थी । लेकिन तुम्हे घंटों लग जाते हैं ।"

"शाश्वत कलयुग जो लग गया है, माँ !" मुस्करा कर माखती बोली ।

"खल, खल, कलयुग की भानी ! सारा काम धधा अभी पड़ा है, और तुम्हे मसखरी सुभी है !"

"अभी मिनटों में सारा काम किये दाखतो हूँ, अम्मो ! तुम देखती तो रहो ।"

"अरु कर दाखेगी । तू हसी सायक होती, तो तुम्हे क्यों भीखन पदता ?"

हँस कर माखती भीतर भाग गई । जमी मुँह बनाए हुए दरवाज़े पर बैठ गई । दक्षिणा एक ओर रख कर, वह झाड़ू धे कर लुट गई । देखते देखते कोठरियों चमकने लगीं । अम्मी का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा । बठ कर भीतर गई, और रात के जूठे वारतन हटा कर बाहर जाने लगी ।

"रहने दो, माँ, मैं अभी मोंग दालूंगी ।"

"तुम तो झाड़ू खगा रही हो, विदिया । एक काम तो कर दाखो पहले ।"

"उसे भी कर दाखूंगी ।"

"महीं, विदिया, महीं । तुम्हे भी तो कुछ करना चाहिए ।"

बाहर बैठ कर पृत्ता वारतन मजने लगी । झाड़ू-गुहारू से छुटी पाकर

कुर्छे से एक डोल पानी खींच कर, मालती भी उसकी सहायता करने आ पहुँची।

बरतनों की सफ़ाई की महत्वपूर्ण क्रिया सम्पादित हो गई। मालती-हार गूँघने लगी, वृद्धा चावल बीनने।

एक-एक फूल सावधानी से उठा कर वह धागे में इस तरह पिरो रही थी, मानो कोई सिद्धहस्त कारीगर स्वयं-अभूषण में नगाने जड़ रहा हो! क्रमशः चतुर हाथ मानो बिना उसके प्रयास अथवा आदेश के स्वयं चलने लगे, और उसके सामने अभी धोड़ी ही ढेर पहले का दर्य आ उपस्थित हुआ। आज अनायास ही जिन मधुर-कटु भावों का सूत्रपात हुआ था, वे ही उसके हृदय में हिलोरें खेने लगे।

घंटे पर घंटा बीतने लगे। हार-रचना की क्रिया सुगमस्थित गति से चलती रही। एक बज गया। कुर्छे पर नहा कर वृद्धा घर लौट आई।

“इतना बड़ा हार किन्तु बना रही हो, बिटिया! जैसे-दो जैसे वाले तो बहुत बिकते हैं, लेकिन इतना बड़ा आसानी से नहीं बिकता।”

“बना जाता है, सो बिक भी जायगा।”

“रोटी नहीं बनाओगी?”

“सुम थूल्हा जलामो, अम्मा! मैं अभी खाती हूँ।”

“अच्छा।”

जगती दूसरी कोठरी में चली गई। फिर वही तन्मयता आ गई, कल्पना की वही चित्रकारी आरम्भ हो गई। अपनी तन्मयता की सारी शक्ति, भावों का सारा माधुर्य, कल्पना की मरी रंगोनी मानो वह हार में भरे दे रही थी। आध-घंटा बीत गया।

“मैं रोटी बना रही हूँ,” वृद्धा ने चिल्ला कर कहा—“जल्दी जा कर नहा आओ, बिटिया!”

“अच्छा, अम्मा।”

हार करीब-करीब बन गया था, दस मिनट का काम बाकी था। यह भी हो गया। तब उसने संनोप को सौंल ली। तर दपड़े में उसे सावधानी से खपेट कर रख कर, यह उठी, और छोटा, डोल और धोती छे कर कुर्छे की ओर चली गई।

खाना-पीना समाप्त हो जाने के बाद वृद्धा ने कहा—“घोड़े से छोटे-छोटे हार भी बिटिया!”

“अच्छा, अम्मा।”

“अगर वहाँ द्वार न बिछा हो वहाँ होगा ?”

“जब न बिछेगा, तो देगा जायगा।”

“देगा जायगा ! तेरी यह धारण मुझे अच्छी नहीं लगती। मन्दादर की दवा ने अभी मेरी हृदय-धर खजने हैं। मैं शुद्ध शरीरों द्वार बना सकता हूँ। मुझे क्या परवाह है ?” टोली छे कर यह शुद्ध द्वार बनाने लगी।

माझती होने लगी। फिर यह भी द्वार बनाने लगी। न जाने क्यों यह उसकी हृदय के विद्वत् था, किन्तु मी की हृदय के सामने अपनी अनिच्छा को दवा देना ही उचित मान पड़ा।

पंच वज्र गप्। प्रतीक्षा का एक एक पल खजने लगी। यह आयेगा कि नहीं ? शायद हाँ, शायद नहीं। लेकिन यह शूटा तो नहीं जान पड़ता था। अगो द्वार खेचने के लिए धाजार जाने की सैपारो काने लगी।

“अभी तो बहुत धूर है, अगो !”

“निसरु कर मोम की घोरी तक तो खली गई। बहुत कड़ा है ?”

“धोही देर और टहर गाओ।”

“अच्छा।” आदर रस्ते पर रंग कर यह बैठ गई।

दो-तीन पण बाद ही शुद्ध दरवाजे के सामने धा खड़ा हुआ। माझती के खेदरे से नैराश्य का छाया उठ गई, मानो धन्दमा पर आया हुआ बादल टट गया हो। उसकी झल्ले उठी, शुद्ध की चालों से मिर्ची और सतोष मकड़ करके भुक्त गई।

“क्या चाहिये, बान्नी ?” शूदा ने पूछा।

“एक द्वार।”

“अच्छा, धन्दर धा जाओ।”

धन्दर उतार कर, उसने मीपके में प्रवेश किया। उसने शायद अपनी माता से कुछ नहीं कहा। शूदा ने उलिया पर पड़ा हुआ करवा हटा दिया। सबसे ऊपर बेला और गुनाब के फूलों का बड़ी सुन्दर द्वार रखा हुआ था, जिसके बनाने में माझती ने अपनी सम्पूर्ण निपुणता लगा दी थी। भुक्त कर शुद्ध ने उसे उठा लिया, और मुस्कराता हुआ मंत्र सुग्ध दृष्टि से देखने लगी।

“हवा मन्त्र धा है ?”

“हाँ, बाबू, इसे बनाने में कई घंटे लगे हैं। जिसे दोने, निहाल हो जायगा।”

“देना तो किसी को नहीं है, अपने लिए ही चाहता हूँ।”

“ले लो, बाबू। आठ आने का है।”

वेस्ट-कोट की जेब में उसका हाथ पड़ले ही पहुँच गया था। दाम देने के लिए वह झुका। वृद्धा की फैती हुई हथेली में धीरे से खनक कर दो नए रुपये चमकने लगे। उसकी बाँहें खिल गईं, और वह आश्चर्य से चकित रह गई।

“हार तो, भइया, आठ आने ही का है !”

“मैं तो इसे दो रुपये से कम का नहीं समझता !” मुस्करा कर, युवक ने उत्तर दिया—“ले लो, माई, आप हुए माल को हाथ से न जाने देना चाहिए।”

“जैसी तुम्हारी मर्जी हो, भइया। खुश रहो। बड़े आदमी ऐसे ही होते हैं। ये हार भी ले लो, भइया।” डलिया में बाकी बचे हुए हार उठा कर वह वैसे देने लगी।

“नहीं, मेरे लिए एक बहुत है।”

“नहीं, नहीं, ले लो।”

“अच्छा, लो।” हार लेकर, उसने फिर जेब में हाथ डाला।

“नहीं, भइया, अब मैं कुछ न लूँगी। चौगुना तो पड़जे ही दें तुम्हें हो। और ये हैं भी कितने के ? चार आने से ज्यादा के नहीं।”

“मेरे लिए एक हार रोज बनवा दिया करो, माई।”

“बहुत अच्छा, भइया।”

“तैयार रखना। मैं कल इसी वक्त आऊँगा।”

“जरूर आना, तैयार रहेगा। बड़े दयावान हो, खुश रहो !”

मनोभावों से भ्रान्तोजित, घुटनों की हाथों से कसे हुए, जमीन की ओर ताकती हुईं माझती बैठी थी। उसकी ओर एक बार विविध भावनाओं से भरी हुईं दृष्टि से देख कर, वह खला गया।

(२)

नियमित रूप से नित्य वह हार लेने आने लगा। और वह जब आता, तो माझती या जगगी के लिए कोई न कोई उपहार अथवा लालच। यथेष्ट घनिष्ठता हो गई थी। किन्तु वह बात जो उसके मन में सध से ऊपर थी, अभी तक व्यक्त नहीं हो सकी थी। इसका कारण था—भवसर

का समाप्त । वह जब जाना, जगती घरघर दरबिन रहती । और कदा-
चित् माजती उसे क्या लीज रही थी । वह रथ था, किन्तु तावपनी
से काम लेना आइता था ।

एक दिन वह सवेरे हा आ पहुँचा, टोक उस समय जब माजती
राग में कृत्र चुना करती थी । उसने देखा, माजती कृत्र तोकने में लगी
थी । किन्तु आज पहारदीवारी पार्श्व कर राग में जाना था उसे आकाश
देना मीति के विद्वत् था । कोपके के सामने जाकर उसने देखा, दरबाने
पर ताका लगा था ।

तब वह उस और गया जहाँ माजती काम में लगी थी । मुद्र कर
उसकी ओर प्रेक्ष कर, दार्प नि रयास लीच कर, वह फिर कृत्र तोकने
लगी । बिना देने ही उसे ज्ञान हुआ, वह समीर ऊपर लड़ा हो गया ।
माजती के शरीर में विचित्र मनमनाहट दौड़ने लगी ।

“माजती !”

“हाँ !”

“माई कहाँ है ?”

“एक नातेदार के घर गई है ।”

जब क्या कहना चाहिये, वह सोचता हुआ वह खड़ा रहा । एक
छय में उसकी कठिनार्ह हल हो गई । एकाएक मुद्र कर, उसके चेहरे
की ओर देख कर, वह बोली “एक बात आप से पूछूँ ?”

“पूछो !”

“आप यहाँ क्यों आते हैं ?”

दो-तीन छय सोच कर, उसने मुस्कराते हुए कहा— ‘हार लेने के
लिए ?’

“क्या सचमुच हार लेने ही के लिए ?”

“तुम क्या समझती हो ?”

‘मैं तो आप से पूछ रही हूँ !’

“माजती, क्या तुम्हें सचमुच मेरे जाने का असली कारण समी
रक नहीं मालूम हुआ ?”

माजती के धीरे पर मुस्करान व्यक्त हो गई । किन्तु उसने कोई
उत्तर नहीं दिया, जर्मन की ओर ताकती हुई सुपचाव लक्ष्मी रही ।

“अगर मैं साक-साक बता दूँ, तो तुम सुरा तो नहीं मानती ?”

“सुरा. क्यों, माजती ?”

“मैं यहाँ आता हूँ...तुम्हें देखने के लिये, तुमसे शो वातें करने के लिए !”

वह निस्तब्ध खड़ी रही ।

“और मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, सच्चे दिल से प्यार करता हूँ !”

वह सिहर उठी । अथाह उल्लास उसके कण कण में तीव्र गति से आन्दोलन करने लगा । उसकी आँखें उठीं, और युवक की आँखों से मिलाई । उनमें आत्म-समर्पण छिपित था । झट कर युवक ने उसे कर्पाश में बाँध लिया ।

थोड़ी देर के बाद वे दोनों एक पेड़ के नीचे बैठे हुए थे । माळती का हाथ अपने हाथ में लेकर युवक ने कहा—“मेरे साथ ब्याह करोगी, माळती ?”

“क्यों न करूँगी ? लेकिन.. माँ...”

“उसे मैं राजी कर लूँगा ।”

“अगर वह राजी न हुई, तो ?”

“माळती ! प्रेम के मामले में क्या किसी की रोक-टोक चब सकती है ?”

“नहीं !”

“फिर क्या डर है ? लेकिन मुझे पूरी उम्मीद है कि माई जरूर राजी हो जायगी ।”

“तब, ठीक है ।”

“वह कब तक आवेगी ?”

“दोपहर तक आ जायगी ।”

“अच्छा, मैं दो-तीन बजे तक थाकर कोशिश करूँगा ।”

“बहुत धन्यवाद ।”

कुछ देर के बाद विजयोल्लास से भ्रमना हुआ वह चला गया ।

चार बजे के करीब वह फिर आया । जगती और माळती हार बताने में खड़ी हुई थीं । प्रसन्नता से सिर हिलाने हुए जगती ने कहा—“आपको, भैया आँधो । तुम्हारा हार सँवार हो गया है ।”

माळती ने उठ कर थप्पाई बिछा दी । युवक इनमीनान से बैठ गया । माळती घर से बाहर खड़ी गई । वह मुस्कराता हुआ बोला—“यहाँ जब आता हूँ, माई, तो मेरा चित्त प्रसन्न हो जाता है । जान पड़ता है, जैसे अपने घर में

“भाऊनो को मैं सगी बेटी से अधिक मानती हूँ, लेकिन तुम्हें भी उससे कम नहीं समझता। हर दम तुम्हारा ग्वाल बना रहता है।”

“भाऊनो क्या तुम्हारी सगी बेटी नहीं है ?” उसने चकित होकर पूछा।

“जएरी में तो नहीं हो ?”

“नहीं, मुझे कहीं जाना नहीं है।”

“अच्छा, तो तुम्हें आज सारा हाल कह सुनाऊँगी। अभी तक किसी से नहीं कहा था, लेकिन तुमने कहने में कोई हर्ज नहीं है। कई दिन से कहने की बात सोच रही थी।”

“ज़रूर सुनाओ, माई ! मैं भी आज तुमसे बातें करने ही के लिए आया हूँ।”

“अच्छा सुनो। भाऊनो मेरे पेट की जन्मी नहीं हैं। उन दिनों अपने आदमी के साथ मैं एक दूसरे शहर में रहती थी। बड़े फट से हमारे दिन बीत रहे थे। हम दोनों बड़ी मेहनत करते थे। फिर भी कर्ज़ का बोझ हमेशा सिर पर लदा रहता था। कोई सन्तान भी न थी। इसका दुःख अलग था। हमारे पड़ोस में एक धानू साहब रहते थे। बड़े भले आदमी थे। उनके घर में पूजा देने जाया करती थी। एक दिन रात के समय वह हमारे यहाँ आये। बहुत धवराये हुए थे। मेरे आदमी ने कारण पूछा, तो बोले—‘मैं बड़ी आक्रत में हूँ। मेरी सहायता करोगे ?’ मेरे आदमी ने कहा—‘आपकी मदद कर लूँगा, तो ज़रूर करूँगा, धानूजी।’ तब धानू साहब बोले—‘अच्छा यह वादा तो कर ही दो कि इस वक्त की बातें कभी किसी से न कहोगे।’ आश्वासन पाकर, उन्होंने कहा—‘मैं जानता हूँ कि निरस्तान होने का सुर्ग बहुत दुःख है और पैसे की भी तुम्हें तंगी रहती है। मैं तुम्हें दोनों भेद करना चाहता हूँ। अभी दो तीन ही दिन का जन्मी एक बड़की है। बड़ी सुन्दर है, और भले आदमियों की बेटी है। उनके माता पिता का नाम मैं न बताऊँगा, क्योंकि यह इज्जत का मामला है; लेकिन रिश्ताय रखो, वे तुमसे उसे कभी छोटने की कोशिश न करेंगे। उसे लेकर अपनी बेटी को तरह पालो-पोसो। इसके लिए जितना रुपया कहो, देने को तैयार हूँ। हाँ, एक बात और है, यह शहर छोड़ कर तुम्हें चले जाना होगा, क्योंकि तुम्हारे यहाँ रहने से भेद सुन्न जाने का डर है। बोलो, क्या कहते हो ?’

“धन्ये को क्या चाहिये ? दो आँसू ! सन्तान भी मिलेगी, धन भी

मिलेगा ! बस, हम तुरन्त राजी हो गए । कर्ज बेबाक करके, दूसरे ही दिन, रात के समय उस लड़की को लेकर हम इस शहर में चले आये, और यह बाग़ खरीद कर घस गए । मजे में जिन्दगी कटने लगी । सचमुच वह लड़की खूब-सी सुन्दर थी । उसे हम जी-जान से प्यार करने लगे । दूज का चाँद जैसे नित्य निरंतरता हुआ बढ़ता है, वह भी वैसे ही बढ़ी होने लगी ! तब वह दस साल की हुई, तो मेरे आदमी का देहान्त हो गया । तब से उसके पालन का भार मेरे ही ऊपर आ पड़ा । घर के काम-धन्धे, सीना-पिरोना, काढ़ना जो कुछ मुझसे बन पड़ा, मैंने उसे सिखाया । कई साल तक स्कूज भी भेजता रहा । वह कोई और नहीं मालती ही है ।”

युवक ने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा ।

“मालती सपानों हो गई है । अब इस क्रिष्ण में हूँ कि कोई योग्य घर मिल जाय, तो इसकी शादी कर दूँ ! तुम्हारी जान-पहिचान तो बहुत लोगों से होगी । किसी मजे आदमी का इसके लायक लड़का हो, तो यताना ।”

“बहुत लड़के हैं ।”

“कौन हैं ? क्यों रहते हैं ?”

“एक तो तुम्हारे सामने ही बैठा है,” उसने तिर झुका कर कहा ।

“अरे तुम ? तुम्हारे साथ मालती का ब्याह हो जाय, तो इससे-यद कर क्या बात हो सकती है ? लेकिन, तुम्हारे मौ-बाप तो शायद इस तरह से जन्मी हुई लड़की के साथ तुम्हारी शादी करने को राजी न होंगे ?”

“मेरे मौ-बाप नहीं हैं । मैं अपना माजिक खुद हूँ । मालती के साथ मेरी शादी कर दोगी, तो अपने को बड़ा भाग्यवान समझूँगा !”

“ज़रूर करूँगा, भइया, ज़रूर करूँगी ! मालती की जिन्दगी बन जायगी, और मैं भी अपने को धन्य समझूँगी ।”

थोड़ा देर में विवाह-सम्बन्धी सारी बातें पकी हो गई । भारी ससुराल से जब वह विदा हुआ, तो उसके पैर ज़मीन पर न पड़ते थे ।

×

×

×

अप्यन्त गुप्त रीति से मालती का रतनचन्द के साथ विवाह हो गया । मौ-पदे से मालती महल में जा पहुँची । जगगी ने पहले तो अपना घर से इनकार किया, किन्तु रतन के कार्यक्रम के जिद्द

उसका अरनी बेग के साथ रहना आवश्यक था। इसलिए मजदूर हा कर, उसे उसके साथ जाना ही पड़ा।

रतन धाधान था। एक सेठ का बेग था। पुरतैनी और चलता हुआ कारबार था, बहुत बड़ी जमींदारी थी, पचासों बैंगले थे। म लता के लिए बैंगला सन गया, नौकर लग गए, एक मोटर हर समय हाज़िर रहने लगी, धन धाभूपणों का ढेर लग गया। इन सब को उसने हम तरह अपना लिया, मानो वह इनकी सदा से धार्दा रही हो।

माझती और रतन के लिए स्वप्न के एक छोटे-से सपार की सृष्टि ही गई। दोनों एक-दूसरे में रमने लगे। सैर-सपाग, सिनेमा, जब त्रिहार, मनोरजन का नित्य नया साधन खोला जाने लगा। आनन्द की सीमा न थी—अधाह, अषार, अनिर्यचनाथ।

किन्तु उषमान की बोटी पर पहुँच जाने पर पतन का आरम्भ होना अनिवार्य है।

(३)

ऐसी बात क्षिपाए नहीं क्षिपती। जगह जगह धर्वा होने लगी, सरह-सरह की अक्रवाहें उड़ने लगीं। पार दोस्त मज़ाक उड़ाने लगे, आभोय द्वितीपी चिन्तित हो उठे। सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए रतन को समझाया बुझाया जाने लगा, किन्तु वह कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुआ।

रात का सीसता पहर था। दोनों प्रगाढ़ निद्रा में मग्न थे। एकाएक माझती आल पड़ी। रतन को धीरे शुरन्त शुद्ध गई। चिन्तित स्वर में उसने पूछा—“बया बात है, माझती?”

माझती का हृदय तेजा से धड़क रहा था। दो-तीन अक्ष के बाद उसने कहा—“एक खराब सपना देख रही थी।”

हृदय से खगा कर, वह उसे शान्त करने की चेष्टा करने लगा। जब वह कार्का शान्त हो गई, तो रतन ने पूछा—“बया देखा था तुमने?”

“मैंने देखा कि एक कमरे में मैं अकेली बैठी हूँ। सहसा एक भयकर सुरत याजा आदमी कमरे में घुस आया। उसे देख कर मैं डर गई। वह मुझे पकड़ने के लिए गपटा। मैं चीख कर भारी। वल मेरी नींद टूट गई।”

“अशोष सपना था। सैर, कोई बात नहीं है। सपने को दिखाई

“हे तुम्हारी मीन हैं !”

“मीन !” वह चकित रह गई ।

“हाँ, वहिन, तुम्हारी मीन हैं । उन से मेरी शारी पहले ब
हो गई थी । यह क्या भी तुम्हारा ही है ?”

मासकों को ऐसा खाम पवने खार, मानो वह चेतनाशून्य हो
रही हो ।

“तुम्हारे स्वभाव की तारीख में बहुत गुन सुको हैं, हतकिर तुम
से एक दिनसो करमे धार्ई हैं ।”

मासकों निश्चय धिठी रही ।

“तुम्हारे भाव व्याद करने की बात सब खोगों को मालूम हो गई
है । उनको यकी बदनामी हो रही है । बिरादरो बाजे बिरादरी से छारिक
कर देने की धमकी दे रहे हैं । लेकिन यह कर जाने बाजे धार्मी म्ही
है, भरनी पुन के पक्के है । यह तो रम से मस नहीं हॉले, किन्तु तुम
बाहो, तो भागे जानेवाले शरमान से हमारा रवा कर सकती हो ।”

“किस तरह, वहिन ?”

“उन्हें लोभ कर तुम कहीं चली जाओ । जितना धन कही में
तुम्हें देने की सौवार हैं । मेरा कहना मान कर तुम हमारा महान् उपकार
करोगी ।”

मासकों मूर्च्छित धिठी रही ।

“बोझो, वहिन, क्या जवाब देती हो ?”

“जवाब धापको मिस्र जावगा ।”

“कब तक ?”

“बहुत जल्द ।”

“अच्छा, वहिन, सब में जाती हैं । दर है कि कहीं वह भा न
जायें । मेरे धर्तों जाने की बात उन्हें न बतलाना ।”

“अच्छा, वहिन ।”

दोनों उठ खड़ी हुई । फिर मासकों ने गले मिस्र कर, वह चली
गई ।

तब कटे हुए पृथ का भौति मासकों लोफे पर गिर पड़ी । सरपुखों
का आगार समझ कर मिस्र मूर्ति को वह पूजा करने लगी थी, आज
वह इस तरह गिर कर चूर-चूर हो गई । भूआ ! दगाबाज ! स्वार्थी !
आह ! कौन जानता था कि रव को तरह धमकाने वाली यह भीज्ञ रान

नहीं, एक मामूली पत्थर है ? क्रोध से उसका शरीर काँपने लगा। फिर वह रोने लगी—फूट-फूट कर रोने लगी, अपने दुर्भाग्य पर, अपनी असहायता पर।

उर-देश में उठे हुए सूफान का वेग जब कम हो गया, तो वह झींझे पोंछ कर उठ बैठी। स्वभाव-निहित उसको उदारता फिर जाग्रत हो गई। दूसरे पहलू से वह विचार करने लगी। रतन के स्थान पर, यदि वह खुद होती, तो क्या यही न करती ? जरूर करती। शायद न करती। शायद करती। मोहवश यदि ऐसा अग्रराध हो जाय, तो क्या वह शम्प नहीं है ? अवश्य है। फिर सौत की छाया-मूर्ति सामने आ कर खड़ी हो गई। अपार अनुरोध-भरा या उसकी झींझों में। और उसकी गोद का वह नन्दा-सा बालक भी मानो माता के प्रस्ताव का समर्थन कर रहा था।

ठठ कर, गुलज़राने में जा कर उसने मुँह धोया। फिर शयनागार में जा कर वह पलंग पर लेट गई, और गहन विचारों में सो गई। सहसा रतन ने प्रवेश किया। चौंक कर वह उठ बैठी। पलंग के समीप जा कर, रतन ने चिन्तित स्वर में पूछा—“कैसी तबीयत है ?”

“ठीक है।”

“चेहरा क्यों उतरा हुआ है ?”

“सिर में कुछ दर्द है।”

“कैफ़िएट्रीन खाया था ?”

“नहीं।”

“खा लो। थोड़ी देर के बाद दर्द जाता रहेगा।”

“अच्छा।”

पलंग पर बैठ कर उसने पूछा—“कहीं घूमने चलेगी ?”

“नहीं।”

“क्यों ?”

“आराम करने की जरूरत है।”

कई क्षण दोनों निस्तब्ध रहे। फिर माइजो ने पूछा—“कहीं जाना चाहते हो ?”

“कई दोस्त सिनेमा चलने के लिए बुद्धि कर रहे हैं।”

“तो चले जाओ।”

“नहीं, अब न जाऊँगा।”

“क्यों ?”

“तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है।”

“अभी दवा खा लूँगी, तबीयत ठीक हो जायगी। वह खोग क्या कहेंगे ? चले जाओ।”

“अच्छा, जाता हूँ। दवा जरूर खा लेना।”

“अच्छा।”

वह चला गया। माळती फिर विचार सागर में डूब गई।

छँधेरा हो चला था। उठ कर, शयनागार से निकल कर वह सदर दरवाजे की ओर चली। अँगन में जगी एक दासी से बातें कर रही थी।

“कहाँ जाती हो ब्रिटिया ?”

“नगा के किनारे।”

“क्यों ?”

“जी ठूँस रहा है। ज़रा सँभ कहेँगी।”

“मैं भी चलूँ ?”

“तुम चल कर क्या करोगी ?”

“नहीं, मैं भी चलूँगी।”

“अच्छा, चलो।”

दोनों बाहर पहुँचीं। आज्ञा दी गई, फ़ौरन मोटर सामने था खड़ी हुई। दोनों सवार हो गईं, मोटर चल पड़ी।

मनोहर महल में ‘अपडीदास’ नामक क्रिस्म दिखाया जा रहा था। अपने मित्रों के साथ रतन अम्बल दर्जे में बैठा हुआ था। प्रकृति की एक सुन्दर मीठा-स्थली में नायिका नायक के विरह में व्याकुल घूम रही थी। सहसा रतन ने देखा, वह कुसुम-कुज अदरय हो गया, नायिका अदरय हो गई। माळती का मुख मरहल परदे पर अंकित हो गया। असीम व्यथा भरी आँखों से वह उसे देख रही थी। आज्ञात आशका से वह कौंप उठा। तुरन्त उठ कर बाहर चला। एक मित्र ने पूछा—“कहाँ जा रहे हो, रतन ?”

“अभी जाता हूँ।”

तेजी से बाहर निकल कर, मोटर पर सवार हो कर, वह घर की ओर रवाना हो गया।

तट पर पहुँच कर, मोटर से उतर कर, दोनों जल की धोर चलीं ।
माँझी माताभीख सामने आ कर खड़ा हो गया ।

“क्या हुकूम है, बहूजी ?”

“धूमना है ।”

“अच्छा, बहूजी !”

उस सजी हुई नाव में दोनों जा बैठें, जिसे रतन ने माळती के लिए
घास तीर से बनवाया था । माताभीख ने नाव खोज दी ।

घर पहुँचते ही रतन को मालूम हुआ कि माळती अपनी माता के
साम गंगा-तट की धोर गई है । उसने शोकर की तुरन्त आज्ञा दी ।
मोटर गंगा-तट की धोर चल पड़ी ।

जादूची के विशाल बर-स्थल पर माळती की डोंगी मंद गति से चली
जा रही थी । पंचमी के चंद्रमा का मन्द, रहस्यमय प्रकाश चारों ओर
फँला हुआ था । गहरा जल आ गया । खगी रख कर, माताभीख डौड़
चलाने लगा । ऊपर, नीचे, चारों ओर एक बार देख कर, मुस्करा कर,
माळती सहसा जल में कूद पड़ी ।

“धरे बिटिया ! धरे बिटिया !” कहती हुई जमी भी कूद पड़ी ।

“धरे ! धरे ! धरे !” डौड़ छोड़ कर माताभीख भी कूद पड़ा ।

उसने बड़ी कोशिश की, किन्तु किसी को बचा न सका । तब हार
कर, यह डोंगी में चढ़ आया और चिल्लाने लगा—“धरे, दौड़ो ! दौड़ो !
राज्य हो गया !”

“आए ! आए ! आए !” कई डोंगियों खुल कर तेजी से घटना-
स्थल की धोर चलीं ।

कई मज्जाद कूदे और धर-धर तीर कर, हुक्मियाँ लगा कर, खोजने
लगे, किन्तु प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुआ । तब एक ने कहा—“माताभीख,
आ कर सेठजी को तो जबर दो ।”

“बच्चा, भइया ।” माताभीरव तुम्हा तऱ की ओर तेजी से चला । किनारे पहुँच कर, मात्र धँस कर, वह सरक कर ओर भागा । रतन की मोटर सरक पर आ लड़ी हुई । वह तुम्हा चतर कर तऱ की ओर चला ।

“तऱव हो गया, सरकार ! तऱव हो गया !”

“क्या हुआ ?”

“दोनों बूट गइ ।”

“कौन ? कैसे ?”

“बहुती और माई । एक पंटा हुआ यहाँ आई । तुम्हा तुम्हा की कहा । मैं तुम्हा रहा था । एकाएक बहूती जख में बूट पड़ी । वह लूँ कर माई भी बूट पड़ी । मैं भी बूट कर सोमने क्षणा, लेकिन कोई मर्तीजा नहीं हुआ । और लोग अभी गोज रहे हैं ।”

रतन के चारों ओर चँपेरा दा गया । वह गिरा और बेहोश हो गया ।

अन्तिम चित्र

“प्यारी मुखोचना,

मानिक घर लौट आया है। हम सब तो उसकी ओर से निराश हो चुके थे। इसलिए तुम समझ सकती हो कि हमें कितनी खुशी हुई है उसके वापस आने से।

वह कहता है कि एक बार तुमसे वह मिलना चाहता है—केवल एक बार। मैं समझती हूँ कि वह उसकी भूल है; लेकिन उससे मैं नहीं न कर सकी। स्वप्न-जगत् में विचरण करने ही मैं जो अपने अस्तित्व की साधकता देखता हो, उसे दुनियादार बनने की सलाह देना कोरी मूर्खता है। जो हो चुका है, वह मिट नहीं सकता, और जो हो नहीं सकता, उसकी कामना करना बेकार है। इस विकृत सत्य से वह अपरिचित नहीं है। फिर भी वह उस मार्ग पर जाना चाहता है, जिस पर उसे न जाना चाहिए। किन्तु मैं उसे रोक नहीं सकती। मैं उसकी बहिन हूँ, पथ-प्रदर्शक नहीं। किसी पथ-प्रदर्शक की सेवाएँ वह स्वीकार भी नहीं कर सकता। यदि तुम इसे नितान्त अनुचित न समझो, तो उससे मिल लेना, ज़रूर मिल लेना। मैं तुम से यह अनुरोध न करती, लेकिन मानिक के प्रति मेरे हृदय में जो ममता है, उसने विवश कर दिया है मुझे। ईश्वर तुम्हारी सहायता करे, और तुम्हारा कल्याण हो! यदि इस पत्र में कोई अनुचित बात हो, तो मुझे क्षमा करना।

संस्नेह तुम्हारी—

रामेश्वरी देवी।”

एक दीर्घ निःश्वास खींचा मुखोचना ने पत्रपढ़ कर। चित्र आने लगे उसकी भौंहों के सामने—अतीत के चित्र।

दिन बल रहा था, और वह रामेश्वरी के घर पर उसके कमरे में बैठी हुई उससे बातें कर रही थी। दोनों एक ही पाठशाळा में पढ़ती थीं, दोनों में घनिष्ठता हो गई थी, और दोनों एक-दूसरे के घर आने-जाने लगी थीं। उस दिन भी अपनी इस प्रिय सखी के विशेष आग्रह पर वह गई थी उसके घर। रामेश्वरी दिख रही थी उसे वह पुख्तोवर,

जिसे वह पुन रहीं थी उन दिनों। सहसा प्रवेश किया किसी ने कमरे में। दृष्टि उठा कर देखा उसने, और मुस्कराते आँखें नीची कर लीं। एक तस्वीर उतर कर बैठ गई उसके दिल में—चमकता चन्द्र, साक घोनी, साक कुरता, लम्बा कद, खिल्ला हुआ सुन्दर चेहरा। दृढ़ गई यह।

“रामा दीदी !”

“क्या है मानिक ?”

“वह... वह किताब जो मैंने तुम्हें कल दी थी, कहाँ है ?”

“उस आलमारी पर है। ले लो।”

वह बढ़ा उस आलमारी की ओर।

“मानिक !”

“क्या है, दीदी ?”

“देखो, यही है मेरी सखी सुखोचना, जिसका जिक्र तुमने कई बार कर चुकी है। सुखोचना, यही है मेरे छोटे भाई मानिकचन्द्र। बी० ए० में पढ़ रहे हैं इस साल।”

“आप से परिचित हो कर मुझे बड़ा खुशी हुई।” नमस्कार कर के सज्जनाते हुए मानिक ने कहा।

तब लज्जा से लड़ते लड़ते हाथ जोड़ने पड़े उसे भी, लेकिन किसी तरह वह कुछ कह नहीं सकी मुँह से। पुस्तक ले कर खड़ा गया उसे आन्दोलित कर देने वाला यह नवयुवक। लोई सी घेठी रह गई वह। रामेश्वरी कहती जा रही थी न जाने क्या क्या। किन्तु वह तो...

घर छोटी वह। विपन्न भारी हो गया था उसका। विचित्र विकलता भर गई थी मन में।

धीत गये कई दिन। वह फिर गई रामेश्वरी के घर उसके आग्रह करने पर। आज एक छोटी-सी इच्छा थी उसके मन में—काश, वह सुन्दर चेहरे वाला नवयुवक फिर दिखाई दे जाता आज भी ! पहुँची वह रामेश्वरी के कमरे में। होने लगी हँस-ठहरे की बातें। रामेश्वरी खड़ी गई उठ कर किसी काम से। सहसा ही गई उसके मन की बात—मानिक आया कमरे में, बढ़ा उसकी ओर। सिहर उठी वह। हृदय धड़कने लगा उसके वेग से। रुका वह उसके सामने पहुँच कर। दृष्टि नहीं उठा सकी वह। एक पत्र आया उसके सामने।

“ले लीजिये इसे,” अनुरोध किया मानिक ने।

तब कौपते हुए ले लिया उसने वह पत्र।

“उत्तर दीजियेगा इसका,” फिर कहा मानिक ने, और चला गया वह बेगी से कमरे के बाहर। बिगा लिया उसने वह पत्र अपनी साड़ी में। व्यग्र हो उठी वह घर लौटने को। रामेश्वरी वापस आई कमरे में नारते का सामान ले कर। खाना पढ़ा उसे भी अनिच्छापूर्वक। कुछ देर के बाद किसी तरह रामेश्वरी से पीछा हूढ़ा कर वह वापस आई अपने घर, और सीधे पहुँची अपने कमरे में। उस एकान्त में पढ़ने लगी वह मानिक का पत्र। अपना हृदय खोल कर रख दिया था मानिक ने उस पत्र में। प्रतिध्वनित होने लगा मानिक का एक-एक शब्द उसके हृदय में। समझने लगा उसके हृदय में विचित्र आनन्द। कई बार पढ़ा उसने वह पत्र, लेकिन नहीं भरा जी। माँ ने आवाज़ दी। तब पत्र सन्दूक में बन्द कर के चली गई वह नीचे। मौका पाते ही फिर पहुँची वह अपने कमरे में, और फिर पढ़ा उसने वह पत्र एक बार। रात के समय लिखा उसने बड़े परिश्रम से उस पत्र का उत्तर। प्रतिध्वनि थी उसके उत्तर में मानिक के भावों की। उचित था उत्तर देना? लेकिन क्या होगा अब यह सोच कर? उचित रहा हो या अनुचित उत्तर दिये बिना रह नहीं सकती थी वह। न देती उत्तर, तो न जाने कैसी दशा हो जाती उसकी।

खैर अपना पत्र लेकर, मनोभावों से दबी-दबी वह गई पाठशाला दूसरे दिन। रामेश्वरी नहीं आई थी उस दिन। बड़ी निराशा हुई उसे। तीसरे दिन भी नहीं आई रामेश्वरी। तबप कर रह गई वह। चौथे दिन आई रामेश्वरी। पता लगा उससे कि तबीयत खराब हो गई थी उसकी। निर्मग्न नहीं किया रामेश्वरी ने उसे अपने घर चलने को। सोच में पड़ गई वह। रीसेस का धंटा बजा। पहुँची वह रामेश्वरी के पास।

“आज मेरे घर चलो, रामेश्वरी,” प्रसंग छेड़ा उसने। जानती थी वह कि रामेश्वरी सुरिकल से राणी होगी।

“नहीं, सुखोचना, आज नहीं चल सकती। मेरी लक्ष्मीयत अभी पूरी तरह ठीक नहीं हुई है।”

“यहाँ तो आई हो?”

“घर पर जी नहीं लगता था, इसलिए चली आई। तुम्हारे घर चलो, तो माँ नाराज़ होगी। उन को आज्ञा बिना चलना उचित नहीं। तुम्हीं चलो आज मेरे घर। तुम्हारे घर किसी दूसरे दिन चलूंगी।”

“लेकिन मैंने भी तो जगमों से धारा नहीं ली है।”

“धरे, वह तो बड़ी सीधी है ! दाईं से कइ हूंगी। वह कइ देग तुम्हारे घर। दाखो मठ, सुजोचना, खलो, ज़रूर-ख़या। कुप देर, तुम्हारे साथ रहूंगी, तो तबीयत बिलकुल खगो हो जायगी। मैं चित्रकारी सीखने खगी हूँ। तुम्हें दिखाऊँगी खपना बनाया हुआ पहला चित्र। है तो बिलकुल रही, लेकिन तुम्हें दिखाऊँगी ज़रूर। मूष हँसोगी तुम उसे देर का। सोझो, खलोगी ?”

“अच्छा खलूँगी।”

मतोप की तौस ली जमने। खत्र सुद्धी का घटा। दाईं को सुजोचना के घर सूचना देने का आदेश दे कर रामेश्वरी का बेटा उसके साथ खपनी गाड़ी में। खत्र पकी गाड़ी। आ गया घर। एगर कर सीधे पहुँची दोनों रामेश्वरी के कमरे में। उधर भोज पर पका था चित्रकारी का सामान—रंगों का एक गुला बरत, कई प्यालियाँ, कई मण। वह बैठ गई एक आरामकुर्सी पर। रामेश्वरी निहाल छाईं आलमारी से खपनी पहली रचना। हँस पकी मधमुष वह उसे देर कर। हँसने लगी रामेश्वरी भी। एक बड़ा मोटा आदमी बैठा था एक तलत पर। उसके सामने था एक हुला, और हुले पर जमो थीं चित्रम। हुले की निगाही थी उसके हाथ में, मुख ऊपर उठा कर फँक रहा था वह धुँये का सुरसुरा, और उसकी टोपी पिसकी जा रही थी उसके तिर से। उसके धौलों के भाव से, मरये की तिकुपन से, धौंटों से, मूँछों से और हँसी से टपक रही थी विचार-मग्नता। विचित्र थी उस की आकृति भी ठीक नहीं था, रेखायें भी नहीं थी दीप-रहित, किन्तु भाव था उसका मौखिक।

“वाह ! रामेश्वरी ! बड़ा सुन्दर आरम्भ है !”

“रहने भी दो। क्या रखा है भदे चित्र में ?”

“किमसे सीख रही हो ?”

“मानिक से। वह सीख रहा है एक प्रसिद्ध चित्रकार से, और मैं सीख रही हूँ उससे !”

“अच्छा !”

“हाँ। बड़ी तरकी कर रहा है मानिक। खलो, दिखाऊँ, तुम्हें उसके बनाये हुये चित्र।”

दोनों पहुँचीं मानिक के कमरे में। वही सुरुचि और सादगी से सजा था वह कमरा। वह बैठ गई तख्त पर। रामेश्वरी निकाल आई आलमारी से एक अलबम। अनेक चित्र थे उसमें। कोई था किसी जल-प्रपात का दृश्य, कोई हिमाच्छादित पर्वत का, कोई बन का, कोई देहाती बाजार का, कोई ग्राम का, कोई खेतों का। ठलभ गई उसकी दृष्टि एक चित्र में। चाँद निकल आया था। एक निर्जन टीला था, और उसके नीचे नदी बह रही थी। चन्द्रमा को रश्मियाँ खेल रही थीं नदी के जल से। टीले पर एक वृष के सर्माप पड़े हुए पत्थर पर बैठा था एक नवयुवक खोया हुआ-सा। चित्र के नीचे हाथ से लिखा था 'मीन व्यधा'। अपनी संपूर्ण एकाग्रता से पीने लगी वह उस चित्र में बहता हुआ रस।

“कैसा है यह चित्र ?”

“बड़ा अच्छा है,” सचेत हो कर उत्तर दिया उसने।

“भाज ही तैयार हुआ है यह। कई दिन से मानिक लगा था इसमें। उसके उस्ताद ने भी तारीफ की है इस चित्र की।”

“रामेश्वरी !” आवाज़ आई नीचे से।

“यहाँ बैठी रहो, सुलोचना। मैं अभी आती हूँ। अम्माँ बुला रही हैं।”

उठ कर खली गई रामेश्वरी। आ गया वह अबसर, जिसकी खोज में थी वह। ठठी वह। लड़खड़ा गये उसके पैर। इधर-उधर देख कर बड़ी वह पड़ी हुई मेज़ की ओर। वेग से घड़क रहा था उसका हृदय। कई पुस्तकें रखी थीं मेज़ पर। साड़ी से निकाल कर अपना पत्र रख दिया उसने ऊपर वाली पुस्तक के अन्दर। खीट कर आ बैठी वह फिर सतत पर। हो गया उसका काम निर्विघ्न रूप से। संतोष की साँस ली उसने। खीट आई रामेश्वरी। दोनों फिर जा पहुँची रामेश्वरी के कमरे में।

बीत गये कई दिन। पाठशाला में एक दिन कहा उससे रामेश्वरी ने—“सुलोचना, एक चित्र के लिए मानिक को मादेल की जरूरत है। मादेल ?”

“क्या करना होगा ?”

“बैठ कर चित्र खिचाना होगा।”

बुप रही वह ।

“धो लो, रात्री हो ?”

“अम्मा से पूछ कर बताऊँगी ।”

“उनसे पूछना तो ठीक न होगा । मुमकिन है वह मवा कर दे ।”

“वष ?”

“इसमें कोई सुराई नहीं है, और फिर किसी को कुछ खबर भी न होने पायेगी । कल छुट्टी है । मैं गाड़ी भेज दूँगी कल सवेरे तुम्हारे घर पर । तुम आ जाना मेरे साथ पढ़ने के महाने से । दिन में मानिक चित्र बना लेगा । शाम को अपने घर वापस चली जाना ।”

“वषों बात है ।”

दूसरे दिन मानिक के कमरे में गेहपूर रंग की साखी धारण किए, फूलों के आभूषण पहिने, घुटनों पर हाथ बाँध, विषाद की मूर्ति बनी बैठी थी एक और कुरसी पर । कुछ देर के बाद रामेश्वरी उठ कर चली गई कमरे के बाहर ।

“तुम्हारा पत्र मुझे मिल गया था, सुलोचना,” मानिक ने कड़वाँ धीरे से, धन्य मानता हूँ अपने को ।

बुप रही वह ।

“दुष्पन्त और शत्रुन्तला भी इसी तरह एक दिन प्यार करने लगे थे । एक-दूसरे को । मैं क्यों प्यार करने लगा तुम्हें, यह मैं नहीं जानता । और शायद तुम भी नहीं जानती कि तुम क्यों चाहने लगीं मुझे । अगर न पा सका तुम्हें तो सार्थक हो जायगा मेरा जीवन । लेकिन अगर न पा सका, तो भी कभी भूल नहीं सकेगा तुम्हें ।”

चाहा उसने कि दोहराये वह भी उसके अमृत में सने शब्द, लेकिन ज्ञान नहीं सुल सकी उसकी ।

“जीवन एक महान् विदम्बना है । जो चाहो वह नहीं होता, जो न चाहो वह होकर रहता है । मैं दहल उठता हूँ यह सोच कर । बाधाएँ आ सकती हैं हमारे सामने, और मुमकिन...। फिर भी आशा तो हम कर ही सकते हैं ।”

दिन भर चलती रही चित्रकारी । अक्सर पाकर कितनी ही बातें कहीं मानिक ने । कितनी मीठी लगीं । उसे वे सब बातें । शाम को

वापस गई वह अपने घर । उस समय प्रसन्नता थी उसके मनु में और वेदना की हलकी टीस ।

तीसरे दिन तैयार हो गया वह चित्र । कितना सुन्दर था वह । तपोवन का एक मनोरम कुंज था । लताओं और वृक्षों के बीच घास के हरे सुकोमल फ़र्श पर बैठो थी वियोगिनी शकुन्तला विकल, अर्शांत, उद्द्वेक्षित । एक मृग-शावक खड़ा था उसके समीप असीम सहानुभूति से देखता हुआ उसकी ओर । कितनी भली लग रही थी वह शकुन्तला की भूमिका में !

और बीत गये कई दिन । एक दिन रामेश्वरी की माँ ने उसकी उपस्थिति में रामेश्वरी से कहा—“कितनी सुन्दर और सीधी लगती है तुम्हारी यह सखी ! मेरी यहू बनने कायक है यह !”

लजा कर मुल फेर लिया उसने । दूसरे दिन रामेश्वरी ने कहीं अपनी-माता की यह बात उसकी माता से । उसकी माता ने कही यह बात उसके पिता और भाई से । उस बात से उत्साहित होकर एक दिन पहुँचे उसके पिता मानिक के पिता के पास विवाह का प्रस्ताव लेकर । तब था उपस्थित हुई विपन्न परिस्थिति । फिर गया पानी उसकी और मानिक की धाराओं पर । इनकार कर दिया मानिक के पिता ने । वह थे रईस, धनी, ज़मींदार; और उसके पिता थे एक साधारण कुर्क । स्थिति का विभेद बन गया भयानक रोड़ा । निराश वापस थाये उसके पिता । बड़ा दुःख हुआ उसे । बन्द हो गया रामेश्वरी के घर उसका जाना-जाना ।

बीत गये कई मास । एक दिन सुना उसने कि मानिक की शादी तय हो गई है, और तिखक शीघ्र चढ़ने वाला है । जो मैं आया उसके कि आगम-दृष्टा कर ले । लेकिन मर नहीं सकी वह ।

तिखक का दिन आया और बीत गया । कहा उसके पिता ने उसकी माता से—“कुछ सुना तुम ने । रंग में भंग हो गया ! रायसाहब के घर तिखक नहीं चढ़ सका । तिखक चढ़ने के एक घंटा पहले मानिक थायू घर से खापता हो गये । सारे शहर में उनकी सलाख की गई, लेकिन कहीं पता नहीं लगा । कितना नेक खबर है यह ! कितनी कोशिश की उस बेचारे ने हमारे पक्ष सम्बन्ध करने की ! लेकिन राय साहब उस से मस नहीं हुये । अब तिर पर शाय रख कर रो-रहे हैं हज़ारों । ऐसा

येवकृत्क शास्त्र मैंने कहीं नहीं देला । घनते हैं नई रोशनी के इन्सान, लेकिन काम करते हैं दकियानूसों के-से !”

धीन गये और कई मास । तप हो गई उसकी शादी भी । चाहा उसने फिर कि मर जाय, लेकिन मर नहीं सकी । घाह री येहया जिन्दगी ! एक दिन बारात छा जगी दरवाजों पर । दूल्हा घन कर आया एक अजनबी और ब्याह छे गया उसे । चाहा उसने कि मर जाय, लेकिन मर नहीं सकी । यह अजनबी घन गया उसके शरीर का स्वामी । घन सका वह उसके हृदय का स्वामी भी ? कैसे घन पाता वह हृदय का स्वामी भी ? यह तो हो चुका या कब का दूसरे का ।

बदली हो गई उसके पति की इस शहर में । और अब रहती है वह इस साधारण घर में उसके साथ । सरकारी नौकर है उसका पति । मखा आदमी है, यह मानता है उसे, खुशो रखने की कोशिश भी करता है उसको । लेकिन प्यास नहीं बुझा सकता यह उसके दिल की । कोई दोष नहीं उसका । यह तो विदग्धना है जीवन की ।

और अब आ रहा है मानिक उससे भेंट करने के लिये । मिलेगी यह उससे ? क्यों न मिलेगी यह उस से ? मिलेगी, जरूर मिलेगी । हृदय-मन्दिर में जिसकी मूर्ति विराजमाद् है, जिसकी आराधना करती आ रही है यह इतने दिनों से । उससे न मिले वह ? यह हो कैसे सकता है ? किन्तु, किन्तु । पयौत्व की जिम्मेदारियाँ, समाज की मर्यादाएँ ? हृदय की पुकार, उसका अनुरोध, उसका आदेश ? सब को मानेगी यह जितना मानना चाहिये उसे ।

(२)

दूसरे दिन दफ्तर से खौट कर कहा राजेन्द्र कुमार ने—“सुनती हो ?”

“बया है ?”

“तुम्हारे एक रिश्तेदार आये हैं । उनका नाम मानिक शन्द्र है । दफ्तर में मुझ से मिले थे । बड़े नेक आदमी मालूम होते हैं ।”

“कहाँ हैं यह ?”

“एक होटल में ठहरे हैं । मैंने उनसे अनुरोध किया कि यहाँ आकर रहें, लेकिन यह राजी नहीं हुए । अभी आते होंगे । खाना इस बच्चे यहाँ खायेंगे । बड़िया खाना तैयार करना ।”

“अच्छा ।”

और यह शुरन्त छुट गई खाना बनाने में । उसका जी इतना कभी

नहीं लगा था इस काम में। बड़े प्रेम से, बड़ी सावधानी से तैयार करने लगी वह भोजन।

सात बजे। मानिक आया। राजेन्द्र ने स्वागत किया उसका। आसन बिछे। बैठ गये राजेन्द्र और मानिक। खाना परोसा सुलोचना ने। बड़ी स्वादिष्ट थीं समाम चीज़ें। कभी हटना मज़ा नहीं मिखा था मानिक को भोजन में।

समाप्त हुआ भोजन। बैठक में आये राजेन्द्र और मानिक। मानिक बैठ गया एक आरामकुरसी पर। राजेन्द्र चले गये कमरे के बाहर। पान लेकर आई सुलोचना ज़रा देर के बाद। भस्कार किया उसने। उत्तर दिया मानिक ने। तशतरी बढ़ाई सुलोचना ने उसकी ओर।

“कल दोपहर के समय आऊँगा, सुलोचना,” पान लेते हुए धीरे से कहा मानिक ने।

“अच्छी बात है।”

चली गई वह। वापस आये राजेन्द्र। कुछ देर तक बातें होनी रहीं इधर-उधर की। फिर विदा ली मानिक ने।

रात बीती। दिन चढ़ा। गौ बजे। राजेन्द्र चले गये दरवाज़े खा-पीकर। तैयार होने लगी सुलोचना। गहने उतार दाले उसने, जोगिये रंग की साड़ी पहिनी, केश विलेख किये और बह करने लगी प्रतीक्षा अपने दुष्पन्त की। कभी ऊपर जाती, कभी नीचे आती, कभी सदर दरवाज़े के सीखचों से बाहर झाँकती।

बारह बजे। जंजीर खटकी, तुरन्त दरवाज़ा खोला उसने। मानिक आया अन्दर। दरवाज़ा बन्द कर दिया सुलोचना ने। दोनों पहुँचे बैठक में कई घण्टों तक चुप खड़े रहे दोनों।

“बैठिये।”

बैठ गया वह।

“अच्छी तो हो सुलोचना ?”

“हाँ, अच्छी ही हूँ, और आप ?”

“जी रहा हूँ किसी तरह।”

हूक ठठी सुलोचना के हृदय में।

“सुखी हो, सुलोचना, इस जीवन से ?”

टकने लगे आँसू सुलोचना की आँसों से। मुख फेर कर आँसू पोंछने लगी वह।

“रोधो नदी, रानी ! बतधाघो शुभे साठ-साठ ।”

“शरीर को कोई दुख नहीं है”, भर्षाए हुए स्वर में उसने कहा,
“छेकिन मन...।”

सुप बैठा रहा वह एक क्षण । “मेरे साथ चला सकोगा ?”

“क्यों ?”

“किसा ऐसी जगह, जहाँ हमें कोई दोष देने वाला न होगा ।”

सुप रही वह ।

“बोसो, सुखोचना ?”

“मैं मजबूर हूँ । मेरा हृदय आपका जरूर है छेकिन...इस पर दूसरे का अधिकार है ।

टठ लड़ा हुआ वह ।

“ठीक कहती हो, सुखोचना ! मेरे लिए अब कोई आशा नहीं है ।”

“टहरिये ।”

“नहीं, अब जाऊँगा ।”

“फिर कब आइयेगा ?”

“कल इसी समय एक बार और आऊँगा ।”

चला गया वह तेज़ी से । देखने लगे वह उसे दरवाज़े की आड़ से । चला जा रहा था वह खड़खड़ाता हुआ धीरे-धीरे । झोमक हो गया वह दृष्टि से । दरवाज़ा बन्द किया उसने । किमी तरह पहुँची वह ऊपर शयनागार में और गिर पड़ी पलंग पर । भर-भर गिर रहे थे भाँसू उसकी आँखों से ।

रात के तीन बज चुके थे और मानिक होटल के अपने कमरे में एक चित्र खींच रहा था । सबेरा हो गया, और वह खगा रहा चित्र बनाने में । दिन बढ़ गया । काम बार्की धा धव भी चित्र में । चित्र समाप्त हुआ साढ़े दस बजे । तब स्नान और भोजन किया उसने । बारह बजने में दस मिनट बार्की थे । उस चित्र को कागज़ में खपेट कर और रील से बाँध कर, वह निकला हॉटेल से बाहर, और सवार हुआ एक ताने पर ।

राजेन्द्र के द्वार पर पहुँच कर जंजीर खटखटाई उसने । दरवाज़ा खुला । सामने लकी थी सुखोचना, दिव्यले दिन वाले वेर में । पैकेट बना दिया उसने उसकी ओर । ले लिया उसे सुखोचना ने ।

“क्या है इसमें ?”

“देख लेना अभी ।”

“अन्दर आइये ।”

“बस, इसे देने हो के लिए आया था ।” मुड़ पड़ा वह ।

“सुनिये तो ।”

नहीं रुका वह । तेज़ी से चल कर ओझल हो गया वह दृष्टि से । एक दीर्घ-निःश्वास खींच कर दरवाज़ा बन्द कर दिया उसने । फिर पहुँची वह मन मारे हुए शयनागार में ।

पैन्ट खोला उसने । वही चित्र था उसमें । एक सुसज्जित कमरे के फर्श पर बित पड़ा था एक नवयुवक । उसके सीने से छूट रहा था खून का फीवारा, और उसके एक हाथ में था एक धुआँ देता हुआ रिवाल्वर और दूसरे हाथ में था शकुन्तला का चित्र । नवयुवक था मानिक, शकुन्तला थी वह । चित्र के नीचे लिखा था ‘अन्तिम चित्र’ । ‘क्या मतलब है इस चित्र का ? ओह ! क्या मतलब...?’

दिन भर आँसू यहा-यहा कर वह इल करती रही यही पहेली ।

(३)

संध्या के समय कहा राजेन्द्र ने—“मेरे लिए खाना मन बनाना ।”

“क्यों ?”

“मानिक यावू ने दावत दी है ।”

“कहाँ ?”

“होटल में ।”

चुप रही वह । किञ्चित् शान्ति मिली उसे ।

“अब जाता हूँ । रात बजे होटल पहुँचना है । बिरानलाज से भी मिलना है ।”

“अच्छा !”

“अपने लिए खाना बना लेना—ज़रूर ।”

कुछ नहीं कहा उसने । चले गये राजेन्द्र । निर्मूलत है उसकी आशंका ? कौन कह सकता है ? दावत ? साधारण शिष्टाचार की वार हो सकती है ? तब ? होकर रहेगा जो होना है । आइ ! वह चित्र !



...ना बना कर खाना ? भूल कहीं है । होटल के एक कमरे में एक

आसीन थे राजेन्द्र और मानिक । प्लेटें, द्दिरकी, और खोडा की बोतलें और गिलास रखे थे मेज़ पर । बड़े प्रसन्न थे राजेन्द्र । उनमें भी अधिक प्रसन्न था मानिक । द्दिरकी की घेतल उठा कर मानिक भरने लगा राजेन्द्र का गिलास ।

“नहीं, नहीं,” चाप का टुकड़ा मुझ में रखते हुए कहा राजेन्द्र ने,
“बस कीजिए, बस कीजिए ।”

“थोड़ी-सी और कीजिए ।”

“मैं बहुत कम पीता हूँ ।”

“ज्यादा नहीं दे रहा हूँ आपको ।”

“बढ़े नेक हूँ आप !”

“यह आपकी उदारता है । मैं तो अपने को पतित ही समझता हूँ !”

“यह क्या कह रहे हैं आप ? आपका-सा नेक दिल इन्सान मैंने आज तक नहीं देखा ।”

“हमेशा रहेगी आपको यही राय ?”

“बेशक !”

“अगर मुझमें कभी कोई ऐसी बात हो जाय, जो दुनिया को नज़र में उचित न हो, तो भी क्या आप मुझे बुरा न समझेंगे ?

“कोई कारण तो अवश्य
”, मानिक बायू ! नहीं, किसी

शुभक्या !

एक घण्टे के बाद राजेन्द्र को सवार कराया मानिक ने एक तौंगे पर । चल पड़ा तौंगा ।

घर आ गया । जंगीर खटखटाई राजेन्द्र ने । दरवाज़ा खोला सुखी-बना ने । ऊपर चले गये राजेन्द्र दरवाज़ा बन्द करके । वह भी पहुँची शयनागार में !

“खाना बनाया था तुमने ?”

“नहीं,”

“तब क्या खाया ?”

“बाज़ार से पूरियाँ मँगवा ली थीं । कैसी रही रात ?”

“बहुत अच्छी । बड़ा मज़ा आया । बड़ा शरीरक इन्सान है मानिक, बड़ा नेक दिल ! वाह ! आदमी हो तो देमा हो !”

दस मिनट के बाद खरांटे भर रहे थे राजेन्द्र । गुम-सुम पड़ी हुई थी सुलोचना अपने बिस्तर पर । तूफान उठा था उसके हृदय में । घना अन्धकार छाया था उसके चारों ओर । हालाँकि की एक रेखा भी नहीं थी कहीं । दम घुट रहा था उसका । बीतने लगा घंटे पर घंटा ।

दो वज्र गये । पीटने लगा कोई सदर-दरवाजे की जंजीर । राजेन्द्र को जगाया सुलोचना ने । जाकर दरवाजा खोला राजेन्द्र ने । सुलोचना खड़ी थी सहन में कानूहल को मूर्ति घनी ।

“बाबू साहब,” होटल के उस आदमी ने कहा—“आपके जो रिश्तेदार हमारे होटल में ठहरे थे...”

“कौन, मानिकचन्द्र ?”

“हाँ, मानिकचन्द्र । उन्होंने आत्म-हत्या कर ली ।”

“आत्म-हत्या कर ली ! कब ? कहाँ ?”

“एक घंटा पहले । अपने कमरे में । पुलिस को सूचना दे दी गई है । मैनेजर साहब ने आपको बुलाया है ।”

“अच्छा रुको, चलता हूँ !”

सुड़ कर पहुँचे वह सहन में ।

“कहाँ से आया है वह आदमी ?”

“होटल से । गजब हो गया ! मानिक बाबू ने आत्म-हत्या कर ली । मैं जा रहा हूँ ।”

शीघ्रता से कपड़े पहिन कर चले गये वह । मूर्तिवत् खड़ी थी वह थाँगन में ।

होटल के उस कमरे में प्रवेश किया राजेन्द्र ने । अन्दर-बाहर मीथूद थे पुलिस वाले । कमरे में क्रश पर चित पड़ा था मानिक । जीवन का कोई लक्षण शेष नहीं था उसके शरीर में । सीना उसका तर था रून से । एक हाथ में था रिवाइवर, दूसरे में शकुन्तला का एक चित्र । शान्ति

भगवान् को धन्यवाद देतो थीं। लेकिन क्रिमात्र मैं तो कुछ और ही खिन्न था। एक दिन मेरे सामने एक पुरुष आया। उस का वस्त्र रस्तेदार था। वह सन्दर्भ था, वह ही न भुक्त, पहा जाऊगा। हमने कहा—'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, वेद प्यार करता हूँ। तुम्हारे बिना जी नहीं मरता। मुझे जीवन-दान दो।' मेरे ऊपर तथा हा गया। हमने मुझे उच किया। क्रियन्त कर मैं गहरे जल में धर्ती गई। और मुझे तब ही ज थाया, जब मैंने अपने को सैन्धवार में पाया। महायना के बिन्दु मैंने उतरे आया। सगाई, उसकी उमके प्रण की याद दिलाई। वह सुख फेर कर गला गया। तब मुझे मालूम हुआ कि वह मनुष्य है न्या में मर्य था। लेकिन तब की उमके तुलना करना शायद मर्य का भी अयोग्य करना है। मसुराधरात्री ने मुझे शुक्या दिया। भैया भी मेरे निष्ठा अपने का साहस न कर सके। परी है, बहिन, मेरे अरमान, पवन और दुःख की कथा।"

उसे हृदय से लगा कर, अपने शीघ्र से उमके शीघ्र पेंद्र का, सुगोला ने कहा—“विज्ञान को कोय का कभी किसी को कुछ नहीं मिला, अगस्त। लेकिन दुःख जब अगस्त हो उठता है, तो ऐसा करना स्वाभाविक ही है। फिर भी मैं तो यह से धर्ती हूँ कि तब हम अरिषों के दुःख भेजना ही बड़ा है, तो हमें उमे सुदधाप भेज लेना चाहिये।”

“यह तो मैं नहीं मान सकती, बहिन। अन्धाय पुरषा। सब जेन, अन्धाय की प्रेरणा देना है। पुरषों को अगर हमारे ऊपर शुभ्य करने का अधिकार है, तो हमें भी उनके विरुद्ध विद्रोह कर देने का अधिकार होना चाहिये। मेरा अगर धरा चले, तो समस्त पुरुष-जाति से अपने हम, अरमान और अयोग्यता का बड़ा खेवर छोड़ो।”

“विद्रोह करने का अधिकार हमें अवरय है, और ऐसा हमें करना भी चाहिये, अगर हमके द्वारा हम ऊपर उठते हैं। लेकिन बदले को भावना तो कोई अरिषी भावना नहीं। इस भावना की सहायता से अगर हमारी जीत भी हो जाय, तो भी हमारी यह जीत हार से अरिषी न रहरेगी। फिर एक या अनेक पुरे पुरुषों के कारण समस्त पुरुष-जाति तो पुरी नहीं कही जा सकती ?”

“जी हो, बहिन, मेरे दिख में जो टीस है, वह तो तभी मिटेगी जब मैं अपनी ही तरह पुरुषों को भी दुःखी होते देखूँगी।”

“मैं भी तो खो ही हूँ, चम्पा, और तुम्हारे दिल पर जो कुछ घीत रही है उसे कुछ-कुछ समझ रही हूँ। लेकिन मैं अगर तुम्हारे स्वान पर होनी, तो यह भी समझ लेने की कोशिश करती कि मुझ से भी कुछ भूल हुई या नहीं।”

“भूल तो सरासर मेरी ही थी, बहिन। अगर ऐसा न होता, तो क्या मेरे मुँह में कालिल लगती, मैं कहीं की न रहती, और आज इस तरह खींच-पसार कर मुझे तुम्हारे दरवाजे आना पड़ता ?”

“मुझे क्षमा करो, चम्पा, अगर मेरी बात से तुम्हारा दिल दुखा हो तो ! मेरा मतलब कुछ और था। लेकिन जाने दो उस बात को। इस घर को अपना ही घर समझो। मैं हर तरह तुम्हारी सेवा करने को तैयार हूँ। आखिर तुम मेरी बहिन ही हो न ?”

“तुम मुझ से बड़ी हो, बहिन। दो कड़ी बात भी कह दो, तो मुझे बुरा मानना न चाहिए। लेकिन तुमने तो मुझे कुछ कहा नहीं, उल्टे मेरे आँसू ही पोंछ रही हो। बात यह है, बहिन, कि इस समय मैं अपने आपे में नहीं हूँ। मुझमें नादानी हुई। बुरा मत मानो। मैं जानती हूँ कि तुम बड़ी उदार हो, दयावती हो, दैवी हो ! इमीलिये तो तुम्हारे सामने अपना यह काजा मुझ लेकर आने का साहस कर सकी हूँ। मुझे उबारो, बहिन, उबारो !”

तब उसे अपनी ओर खींच कर, हृदय से लगा कर, उसकी पीठ पर प्रपकियाँ देकर, आँसू बहा कर, सरल-हृदया सुशीला उसे फिर-फिर आश्वासन देने लगी। और उसने मान लिया कि चम्पा सर्वथा निर्दोष है, युग-युग से प्रताड़ित नारीत्व का वह भी एक रूप है, और उसको संघा कर सकता उसके लिए शौर्य की बात होगी। यहाँ कहा उसने अपने पति, ललित कुमार, से जब वह सन्ध्या के समय घर आया। किन्तु ललित अपनी सरल-हृदया पत्नी से सहमत नहीं हो सका। अनुभव-सम्पन्न उसकी सुबुद्धि यह स्वीकार नहीं कर सकी कि चम्पा-जैसी, प्रौढ़ युवती की अधोगति का उत्तरदायित्व एकमात्र उसके प्रेमी पर है।

“मैं यह मानता हूँ, सुसी,” ललित ने कहा—“कि उदाम काम के चरीभूत हो जाने पर पुरुष जानवर से भी बदतर हो जाता है; लेकिन मैं यह नहीं मान सकता कि ऐसे पुरुष से भी यदि कोई अनुभवी स्त्री बचना चाहे, तो बच नहीं सकती।”

“बल के प्रयोग से क्या वह भए नहीं की जा सकती ?”

“की जा सकती है, लेकिन इस तरह भए की गईं नारी को मैं भए नहीं वह सकता। चम्पा का जो हाल तुमने मुझे बताया है, उस से तो यह जाहिर नहीं होता कि उसके प्रति बल का प्रयोग किया गया ?”

“बल प्रयोग को यदि उसके ठोस अर्थ में ले रहे हो, तब तो तुम्हारी ही बात ठीक है। लेकिन और तरीकों से भी तो बल प्रयोग किया जा सकता है ?”

“येशक ! लेकिन कुमार्ग को पहिचान सकनेवाला व्यक्ति यदि अपनी हृदय से कुमार्ग पर चलने लगे, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसके साथ किसी तरह का बल प्रयोग किया गया है।”

“जो हो, मैं तो समझती हूँ कि हमें चम्पा के प्रति दया-भाष रखना और उसे आश्रय देना ही चाहिये। उसे दुःख है, पड़ता-था है, और कहीं और उसके लिये ठिकाना भी नहीं है।”

“यह मैं भी मानना हूँ, सूसी। लेकिन हमें यह भी सोच लेना चाहिये कि समाज हमारे इस काम का समर्थन नहीं करेगा, उल्टे हमारी निन्दा ही करेगा।”

“किया बरे। लेकिन कोई निष्पक्ष व्यक्ति समाज के उस व्यवहार के लिये हमें दोषी नहीं ठहरायेगा।”

“यह तो ठीक ही है।”

चम्पा ने सन्तोष की साँस ली। नाव किनारे खग गईं। शोभी-पानी से बच कर दो घड़ी टिक रहने का ठिकाना मिल गया।

×

×

×

प्रसव का समय था गया। कुमल छोड़ी डाक्टरों और नर्सों की देख-रेख में एक सार्वजनिक अस्पताल में चम्पा ने एक पुत्र को जन्म दिया। एवं हुआ उसे, किन्तु हुआ भी। पुत्र को जन्म दे कर कौन माता आनन्द नहीं होनी ? लेकिन चम्पा की उस स्थिति में पड़ी हुई स्त्री यदि दुःखी भी हो, तो वह स्वाभाविक ही है। एक-कोपन में बच्चे के कुछ जाने का जितनी सम्भावना थी, उतनी दाय इस बुके-कोपन में न थी। मुशीला उसे निरथ देख आती। कलित भी रोग उसका हाल-खाल पूछ आता। उस दिन के बाद चम्पा अपने इन मित्रों के पास लौट आई। उसे और उम के बंधों को दोनों ने पूरी तरह अपना लिया।

अपनाने की क्रिया में ललित हुनना आगे बढ़ गया कि उसे भय होने लगा कि शायद अब वह पीछे नहीं लौट सकेगा। लेकिन लौटे बिना काम कैसे चलेगा ? जीवन के विशाल पथ के अगल-बगल थनेक सुन्दर, सुरम्य रंग स्थल रहते हैं। किन्तु प्रत्येक ऐसी जगह पथिक का उलझ रहना क्या उसे शोभा दे सकता है ? उलझना उसने चाहा तो नहीं ? फिर भी उसका उत्तरदायित्व कम तो नहीं हो जाता ? उत्तरदायित्व कम हो तो भी परिणाम भिन्न तो नहीं हो सकता ? और कितना भयंकर हो सकता है वह परिणाम ! वह चम्पा कौन है उसकी ? बहुत दूर के रिश्ते से साला लगती है। सुशिक्षिता भी वह नहीं है, अप्सरा भी नहीं और वह स्वेच्छा से गढ़े में गिरी, और उसके उस इत्य की समाज सराहना भी नहीं कर सकता। सुशीला उससे कहीं अधिक रूपवती है, सरलता के समानसरल, उदारता के समान उदार, भक्ति के समान पवित्र। फिर भी चम्पा उसे अपनी ओर खींच रही है, खींचती जा रही है; और किसलता हुआ, लुढ़कता हुआ वह बढ़ा जा रहा है। किधर ? शायद एक ऐसे अंधकूप की ओर, जो उसे समूचा निगल लेगा, उसके अस्तित्व का कोई चिह्न बाकी न रहने देगा। क्या उस में यत्न नहीं, बुद्धि नहीं, साहस नहीं ? है क्यों नहीं ? लेकिन...। नहीं, नहीं, उसे रुकना ही पड़ेगा, बचना ही पड़ेगा। इसी में तो उसका और सुशीला का कल्याण है।

और रुकने और बचने की क्रिया आरम्भ भी हो गई। मघेरा होते ही वह गंगा-स्नान के लिये चला गया। स्नान करके लौटा, तो दाइर बैठक में बैठ कर समाचार पत्र पढ़ने लगा। सुशीला पान देने आई, तो कई क्षण तक उसके चेहरे की ओर देखती ही खड़ा रह गई।

“आज अन्नमने क्यों हो ?”

“धूप में पैदल चल कर आया हूँ, शायद इसी से।”

“हाँ, शायद इसी से। चाय बना हूँ ?”

“नहीं। रहने दो। नौ बजने में दस मिनट बाकी हैं। खाना खाने का समय आ रहा है।”

खाना खाकर वह दफ्तर चला गया। चम्पा कई बार उसके सामने आई, किन्तु ललित उससे बोला नहीं। फँसता हुआ शिकार क्या निकल भागेगा ? नहीं भाग सकेगा वह, अगर शिकारी की सतर्कता, उसकी-

चतुर्गर्ह, उसका कौशल चल गया ? नहीं, नहीं बच सकेगा वह, जब तक उसके तर्कश में एक तीर भी बाकी रहेगा। शम्भया कैसे मिटेगी चमरा के दिल की टीस, कैसे मिटेगी उसे यह विकट शान्ति, जो तूमान के रथ पर चढ़ कर ही उसके निकट आ सकेगी ? विनाश तारक-वृत्त्य करेगा, दुःख हँस हँस कर साज देगा ? होने दो वह सब। उसे तो यह शान्ति चाहिये, जो . !

शाम था गई थी। बेठक में ललित शारामकुमारी पर खड़ा हुआ एक पुस्तक देख रहा। हलुके की तरतरी और जल-भरा गिलास हाथों में लिये हुये चमरा आई, और दरवाजे के समीप खड़ी होकर उसकी ओर देखने लगी। उसका आना ललित से दिग नहीं रहा, लेकिन उसने उसकी ओर दृष्टि नहीं डाली। तब चमरा ने तरतरी और गिलास फर्श पर रख दिया। एक छोटी-सी मेज़ शारामकुमारी के सामने ले गई। फिर उस पर तरतरी और गिलास ला कर खड़ी सावधानी से रखा।

“नाश्ता कर लीजिये, जीजा !”

“नहीं।”

“क्यों ?”

“यों ही।”

“मुझ से नाराज हैं क्या ?”

“नहीं।”

“फिर नारना क्यों नहीं करना चाहते ?”

“भूख नहीं है।”

“बहिन को बुला दूँ ?”

“वे क्या भूख पैदा कर देंगी ?”

“.....”

“.....”

“.....”

“.....”

“.....”

“.....”

“.....”

“.....”

“.....”

“.....”

“.....”

“.....”

“.....”

“लेकिन पुररों को पुरर ही ज्यादा समझ सकते हैं !”

लेकिन यह क्या कर रहा है वह ? फिर उसी दलदल की ओर ? उसका वह निश्चय ? खरम कर देना चाहिये इस खतरनाक बातचीत को। तब एक क्षण रुक कर, वह नारता करने लगा। चमरा की बानि

निवृत्त गई। मुस्कराती हुई वह कमरे के बाहर चली गई। क्या वह सबकुछ उमे चाहती है? चाहती नहीं, तो इस तरह आगे क्यों बढ़ी आ रही है? और भी कारण हो सकते हैं? शायद उमे प्रमत्त करके अपना भविष्य सुरक्षित कर लेना चाहती है। नहीं, यह बात नहीं हो सकती। अगर यही बात होती, तो उसके अस्तिव से निकल कर वह उमे इस तरह घेरने न लगती। किन्तु क्यों सोच रहा है यह यह सब? उमे तो अपने निरक्षय पर बड़े रहना है। क्या न रहेगा, तो क्या अपनी सुबुद्धि का अपमान करेगा वह? किन्तु वे लहरें—प्राणों को छूट कर भागने वाली, शरीर के एक-एक तार को आन्दोलित कर देने वाली लहरें! नय जैसे सुबुद्धि उसका हाथ पकड़ कर उमे घर से बाहर खींच ले गई।

कई नलियाँ आगे आई, और पाँदे छूट गई। एक पार्क रामने आया, और उसे निमंत्रित करने लगा। वह अन्दर घुसा, और पेड़ के नीचे पहुँच कर बेंच पर अस्त-व्यस्त बैठ गया। कैसी भयानक अशान्ति थी वह, जो उसके अन्दर से आँधी की तरह हहरा रहा था! कैसा दर्द-सर था वह, जो साइलाज हो जाने का सामान करता नज़र आता था! मन की गहराई में कहीं क्या कोई ऐसी शक्ति नहीं, जो इस आड़े बक्त पर निकल कर उस आँधी को शान्त कर दे, इस दर्द-सर को ख-म कर दे?

‘ललित!’

चीक कर उसने देखा। उसका एक मित्र गोकुलचन्द्र उमड़ी ओर खड़ा आ रहा। दूर ही से उसने सलाम किया। ललित ने उत्तर दिया। गोकुल आया, उसकी बगल में बैठ गया, और विनोदपूर्ण दृष्टि से उसके चेहरे की ओर देख कर मुस्कराता हुआ बोला—“इस तरह यहाँ बैठे हो, जैसे घर से निकाल दिए गए हो!”

ललित हँस पड़ा।

“एक औरत ही इस काम के लिए कारी होती है। लेकिन जब एक के बजाय दो सर पर सवार हों, तो ईश्वर ही मालिक है!”

ललित गम्भीर हो गया। इसी उसके आँटों से उड़ गई।

“यों, पार ललित, वह कौन है, जो आज-कल तुम्हारे यहाँ आई हुई है?”

“मेरी साली।”

“तब तो ठीक है !”

“हम का मतलब ?”

“मगलब यह कि जो कुछ हुआ, ठीक ही हुआ !”

“यानी ?”

“उन्हे तुमने एक से दो कर दिया ! हमसे बढ़ कर कौन-सी बात हो सकता है ?”

“दो कर दिया ?”

“बेधारी अकेली थी । तुम्हारी बधाईलत उसका रूनो गोद में एक छोटी सा बच्चा था गया । हमनी सीधी-सी बात नहीं समझते ?”

“गोकुल, मैं जानता हूँ कि तुम बड़े दिव्यगोवाज हो, लेकिन मजाक को भी एक हद होता है । गाली बकना तुम जीवे भले घादमी को शोभा नहीं देगा ।”

“गाली बकी है मैंने ?”

“श्री! क्या किया है तुमने ?”

“मर्ची बात बर्चिया भी होती है ।”

“मर्ची नहीं, बिलकुल मर्ची बात बकी है तुमने ।”

“अपनी जान-बिधान का हर शपथ तो बकी कह रहा है, जो मैंने कहा है । अगर मैं मूटा हूँ, तो सारा जमाना मूटा है ।”

ललित बैठ कर एक और तैजी से खल दिया । कैमा विकट-लाइन धा यह ! उसका प्रतिवाद ? कर तो दिया उसने प्रतिवाद एक ढंग से । किन्तु वह ढंग शायद ठीक न था ? दूसरा ढंग ? प्रतिवाद तो वास्तव में एक ही तरीके से हो सकता है, और वह यह कि सारा बच्चा-बिठा साफ़ साफ़ बयान कर दिया जाय । क्या यह उचित होगा ? नहीं, नहीं, यह उससे नहीं हो सकेगा, हरगिज नहीं । किन्तु वह लाइन ? वह अत्यन्त सिद्ध हो कर रहेगा । जीवन के इस बूल पर जहाँ अत्यन्त की साथ सिद्ध करने ही में भाग्य अपना गौरव देख रहा है, क्या साथ की विजय हो सकेगी ? और ये लहरें जो रह रह कर उसे घेर घेर कर भयानक भँवरों की धीरे धीरे ले जाना चाहती हैं ? काटते रहना होगा उन्हें ।

रात के दस घण्टे चुके थे । ललित बिस्तर पर खेटा हुआ था, और सुशीला उसके पैर दाब रही थी । सुशीला ने कहा—“बकी बदमसी हो रही है हम लोगों की ।”

“यह तो होने ही को था।”

“उम दिन राम बाबू के यहाँ से हमारे यहाँ दावत क्यों नहीं आई, जानते हो ?”

“नहीं।”

“आज प्रेमा के घर गई थी। उमने कहा,—‘उस दिन राम बाबू के घर नहीं आई ?’ मैंने उत्तर दिया, ‘ऐसी वेशर्म तो नहीं हूँ, वहिन, कि बिना बुलाए किसी दावत में चली जाऊँ।’ तब प्रेमा ने कहा, ‘तुम्हारी चर्चा जब वहाँ छिड़ी, तो राम बाबू की खी योर्ली, एक गर्भवती विधवा को जो कोई अपने घर में जगह दे, उसके यहाँ पानी भी न पीना चाहिये। मैं तो उन लोगों से कोई मतलब नहीं रखना चाहती।’ मैंने कहा, ‘अगर कोई मेरे यहाँ पानी न पीना चाहे, तो उसे ज़बरदस्ती पानी पिखाने की कोशिश करके मैं देवकूफ नही बनूँगी। लेकिन अगर कोई दुःखी आदमी मेरे दरवाजे पर आए और मुझ से सहायता माँगे, तो उसे दुःखार देने का साइत मुझ में नहीं है, वहिन !’

“बहुत ठीक कहा तुमने।”

“लेकिन अब तो मैं सोचती हूँ कि चमरा को अपने घर में रख कर शायद हम लोगों ने अच्छा नहीं किया।”

“लोक-निन्दा से डर गई ?”

“नहीं, यह बात नहीं। मुझे इस बात का जरा भी अरुसोस नहीं है कि हमारी बदनामी हो रही है। फिर भी न जाने क्यों मेरे मन में रह-रह कर यह बात उठ रही है कि चमरा को यहाँ रखना ठीक नहीं है।”

कलित निस्तब्ध रहा।

“उसे दूर रख कर भी तो हम उसकी सहायता कर सकते हैं ?”

“कर सकते हैं। लेकिन यहाँ पनाह दे देने के बाद अब उसे दूर करने से उसका अपमान होगा और हमारी हँसी उड़ेगी।”

“यह तो ठीक है।”

×

×

×

सुगीला के मायके से उसका छोटा भाई उसे बुलाने आया। वह जाने के लिये तैयार हो गई।

“नहीं, इस समय तुम्हारा जाना उचित नहीं,” कलित ने विरोध किया।

“कहाँ ?”

दुमका जगर वह क्या है ?

“दादा यहाँ आते हैं। कदम सड़ते हैं। जल में भी मदी हुई। मुझे भी मिलने के लिए यह दायर है। मेरी भी यही दायर है। यही जान दो मुझे। यह हरे में क्या है यहाँ मदी उठेगी। मुझे यहाँ कदम सड़ना भी न होगी। यही तो है ही।”

“कदा, माता,” यहाँ पर एक सीध कर दिये तो कहा।

शोध अब यह कैसे जाता ? मन की जिन सुखेंतना की अनुभूति में वह स्वयं सदा उठता था, उसका परिचय वह सुखोंका को कैसे दगा ? “यही तो है ही !” कैसी भी तो है सुखोंका ! यही तो उचितत उतके निकट मुखियाजनक है, किन्तु यह यह यहाँ समझतो कि यही काय अनुभवना भी सावित हो सकती है। यहाँ की उन जागकारी से यह भावना नहीं आता, भाग भी नहीं मरता। हसींजिए तो उतका दृश्य रदनह कर पते की तरह बँवने लगता है। ही नहीं मरते वचन ? ही क्यों नहीं मरतो ? यह पापर धन जायगा, वर धन जायगा।

उसी दिन सुखीका मायके चलो गई। और यह क्या अहित उस परिचिति का सामना करने के लिए, मिलनी जगितना वार्ता ही जा रही थी।

यही के लिए मैंने अब गाऊँ या। अपने लिये एक ही आजादी के साथ पहुँचने से रोकने वाली अब कोई भी नहीं थी। और शिकार ? वह तो खुद डिपकता हुआ, मिथकता हुआ, कौवता हुआ किन्तु जाऊँ के पद में क्या हुआ, उसके निश्चय आ रहा है। न आयेगा, तो जायगा कहीं ? कथ तक उतर मरेगा वह उमड़े सामने ? आनन्द करने का, मीठा उदाते का प्रत्येक रूपको को अधिकार है। सुखीका उसे रोकने वाली कौन है ? क्या रोक मरेगी यह बेचारी उसे ? विश्वासवान ? मिथ्या है यह धारणा। मूर्खता का नाम है यथाहारी ! विश्वासवान को मारी हुई तो वह भी है। विश्वासवान का उका हर जगह तो बज रहा है। फिर बहते गंगा में यह भी क्यों न दाप धी से ?

पापर धन जाने की दृष्टा करना आनान है, किन्तु पत्थर धन जाना कठिन। कठिन ही नहीं, अहित के लिए तो यह असम्भव सिद्ध हो रहा

था। कितनी निरीहता, कितनी दयनीयता अनुभव कर रहा था ! अन्त-
देश में जो द्वंद्व छिदा हुआ था, उसमें खर्च होती रहने के कारण भेव
उसके पास उतनी शक्ति नहीं बची थी, कितनी आवश्यक थी। इस समय
उसके आत्मरक्षा-अग्र भी कुन्द होने लगे थे। सुशीला की उपस्थिति
एक बाल थी, किन्तु वह भी इस समय निकट न थी। क्या होगा तब ?
उसके अन्दर दहाड़ता हुआ उसका पशु भाँद से बाहर निकलेगा, और
उसके सुन्दर, छोटे से संसार में विनाश के भयावह दृश्य उपस्थिति
करेगा; और उसका मनुष्यत्व सिर धुनेगा, पड़तायेगा, कोसेगा अपने को,
इसको, उसको। उसके अस्तित्व के विकास-क्रम का शायद यह अध्याय
भी एक आवश्यक अंग है ? नहीं है यह मान, तो क्यों होने जा रहा है
यह सब ? पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों का दण्ड ? किन्तु यह भी तो आ
जाता है विकास-क्रम में ? कैसा विचित्र है यह क्रम ! कैसे ऊँचे, नीचे,
सुन्दर, असुन्दर, स्वच्छ, मलिन स्थानों में होता हुआ यह चलता जाता
है ! इस रथ में घोड़े की तरह जुता हुआ वह चल रहा है। सारथी वह
नहीं बन सकता क्या ? बन सकता, तो इतना असहाय क्यों पाता
अपने को ?

बोत गये दो दिन। आ गया तीसरा दिन। और प्रतीत हुआ जलित
को कि केवल दुष्कल्पना ही निर्मूलत आशंकाओं को जन्म दे कर उसे सता
रही है। उन आशंकाओं की पुष्टि के लिए कुछ कम न थे दो दिन ?
मनुष्य स्वयं अपने दुःख और सुख का मूजन करता है। कितना सरय है
यह कथन ! कितना दुखी रहा वह इन दिनों, और अपने ही कारण,
अपनी ही प्रेरणा से ! और अब ? कोई कारण नहीं किसी चिन्ता का।
तब जाती रही उसकी सतर्कता।

उल गया दिन। घोंत गई संध्या। आ गई रात। जब भोजन करने
बैठा जलित, तो अनेक स्वादिष्ट पदार्थ उसके सामने आए। और बड़े स्नेह
से आग्रह कर-कर के चम्पा खिलाने लगी उसे। किस प्रसंग की भूमिका है
यह ? जाग्रत हो गई फिर दुष्कल्पना ? साधारण शिष्टाचार ही की तो यह
यात है ? किसी हेय कामना का हाथ खोजना इस में कदापि उचित नहीं।
यह अनुचित ही नहीं, अपनी ही कुटिल मनोवृत्ति प्रकट होती है इससे।
यही मनोवृत्ति तो सता रही है उसे इतने दिनों से। शायं हाथ का खेल
है इसके लिए नरक के भीमरस दृश्यों की रचना कर देना। अब बचते
रहना होगा उसे इसके पङ्कज से, इसके जाल से।

भोजन कर चुका ललित । पान दिया उसे चम्पा ने । पान खाया उसने । भर गया उसका मुँह केन्द्रे और हृत्पायकी की मुगड से । फिर खा गया उसे नशा, और मर्ती गेड्डने खगी उसके मन में । मूमता दुःखा खजा गया वह पूगने के लिए ।

दो घंटे के बाद वह पागप थाया । जगोर खण्डटाई उसने । गुरन्त प्रा इर दरवाजा खोला चम्पा ने । अन्दर गया वह, और चम्पा को देख कर दग रह गया । गिर से पैर लक मची हुई थी वह, और हिना की मादक मुगव की लहरें चरकर फाट रही थीं उसके चारों ओर । वह मर्तीकी लहरें धरने खगी उस भा । चकित दृष्टि से देखा उसने चम्पा के उरुच चेरों की ओर । पान की लानी मे रंगे हुए चम्पा के घोडों पर ब्यक्त हुई एक मादक सुरमान, और झरझर पड़ी मोतियों की दो जेबियाँ । लदलदा गया ललित ।

धीरे धीरे वह कर पहुँचा वह अपने शयनागार में । वहाँ सफाई से बिदा हुआ था उसका बिस्तर । दूध के समान चमकती हुई चादर में एक भा न था शिकन । यड़े कावड़े मे रंगे हुए थे तकिए । और वह गुलं चीजें क्या हैं जो भौंक रहा है तकियों के नीचे से ? वह कर, झुक कर, तकिए हटा कर देखा उसने । गुत्ताय के ताते पूव थे । क्या होगा अब ? आ गई क्या वह कठिन घरी, आगका धी जिसके घाने की ? हुक्कराय ? नहीं, नहीं । किन्तु क्या है इन बातों का मतलब ? मतलब ? गृह-न्यायो की समुचित सेवा । समुचित या अत्यधिक ? निर्मूल आशंका । और वह उसका असाधारण शगार ? कोई अधिकार नहीं उने शगार करने का—अपने को सुश करने के लिए भी नहीं ? कष्ट साध्य, अनुचित, अवाङ्मनीय नियम समाज के !

कपड़े और जूते उतारे उसने । और खो गया वह पलंग पर । व्यक्ति व्यक्ति है, समान समान । कठोरता से शासन करने का चाही है समाज । किन्तु विद्रोह कर उठना भी स्वाभाविक है व्यक्ति के लिए । विद्रोह का झडा लड़ाया है चम्पा ने, और ऐसा करना स्वाभाविक भी है उसके लिए । क्या मिजा उस समाज मे एक भूल के कारण ? सहानुभूति के अजाय लाइना और लाइना । उसी की तो यह प्रतिविया है । उसकी भूल की पसन्द नहीं किया उसने हज्ज करना । तब क्यों हज्ज करे वह उसके अर्थ को ? कैसा विचित्र ध्यापार है यह, कैसा करुण और हृदय द्रावक !

सुरीशा की परेशानों बढ़ गईं। गम्भीरपत्रक नहीं था क्वचित् का उपर। किन्तु काय बढ़ आगता नहीं स्वयं ही, तो क्या कपलाए मह उसी ? स्वय ही स्वीकृता होता कारण। उसका न रहना ही मरणा है कारण ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। शक्यतर मह जानो रहती है यहाँ-वहाँ। जेदिस कमा नहीं हुई पड़ते उसकी ऐसा हाजिर। तब क्या है मातरा ?

जाने क्या क्वचित्।

“कहाँ जा रहे हो ?”

“जता एक काम है।”

“समस्या का जाले न सुनो ?”

“सुनूँगा क्यों नहीं ?”

“फिर क्यों क्यों जा रहे हो ?”

“काम जो है।”

“क्या इतना जरूरी काम है कि एक नहीं सकता ? पड़ते जो मेरे हृदय तरह जाने पर हर काम रुक जाया करता था ?”

अज्ञित विहसर हो कर बैठ गया। सुरीशा का आश्रय निराधार न था। काम जरूरी न था, आमाता से टक सकता था, और भागने-बचने की हृदा भी बंधी हुई थी उसके साथ। किन्तु यह वह जाय कैसे ? अब कबले जाने से उसका पड़ो प्रयोगन विगड़ सकता है, जो वास्तविक कारण था जाने की हृदा का। सुरी थी वह हृदा ? सुरी थी एक तरह, अक्षी थी दूसरी तरह। करने लगी सुरीशा साथके का हाथ। सुनने लगा अज्ञित अस्यमनरुता से। द्विपी नहीं रही यह बात भी सुरीशा की मज़र से। अटिक हो गया भेद हीर भी।

अपना मैं भी दिग्दर्हि दिया उभे किंचित् परिवर्तन। उसके स्ववहार में किंचित् गर्भ तथा अधिकार का आभास मिखा उभे, और भ्रुकुचित थी यह असाधारण रूप से। क्यों है ऐसा ? अस्वाभाविक है ऐसा होना ? किन्तु पड़ले तो ऐसा न था ? समय उर्वो-उर्वो बोलता है, स्वी-स्वी कम होता है दुस का भार, और खौटने लगती है शान्ति, जिसके पीछे खरी रहती है प्रसवता। किन्तु गर्भ तथा अधिकार की छाया ? उसकी अतु-परिचित में गृह-स्वामिनी के पद पर आरुह्य हो जाने के कारण भी तो क्या सकता है अथा मैं वे बातें ? फिर भी न जाने क्यों आपत्ति है उसके मन को यह सकार्य स्थिकार करने में।

धीत चुकी थी आधी रात । लेटी हुई थी सुशीला अपनी चारपाई पर अपने शयनागार में । वज्रपात की चारपाई पर लेटा हुआ था उसका पति । वह सो रहा था । लेकिन जाग रही थी वह । जो अशान्ति आज यहाँ लौटने पर छा गई थी उसके मन में वह प्रबल थी अब भी । भेद नहीं खुला था अभी तक । और वह छुटपटा रही थी उससे परिचित होने के लिए । सुरक्षित है उसका पति, उसका घर, उसकी सम्पत्ति, किन्तु कुछ खो गया है उसका । क्या है वह चीज ? कुछ भी हो, वह जानती है कि कोई मामूली चीज नहीं है वह । मामूली चीज होती, तो उसका अभाव सारे घर में व्याप्त हो कर उसकी छाती पर बोझ की तरह न लद जाता । और जान पड़ने लगा उसे जैसे वह विकट, विकराल अभाव खा लेगा उसे । क्या है, वह क्या है ?

हृत्प के मन्द प्रकाश में देखा उसने—कोई आया दबे-पाँव कमरे में । कौन वह ? एक स्त्री । ऐं ! यह तो चम्पा है ! क्यों आई है यह यहाँ इस समय ? किमी चीज की जरूरत होगी ? जरूरत किमी चीज की थी, तो बाहर से क्यों नहीं आवाज दी इसने ? पूछना चाहिए ? नहीं देखना चाहिये । अधमुँदी कर ली उसने अपनी आँखें । देखा ध्यान से चम्पा ने उसकी ओर । इतमीनान हुआ । बड़ी वह धीरे-धीरे ललित की चारपाई की ओर । रुकी, झुकी, फिर ललित का एक पैर पकड़ कर हिलाया उसने धीरे से । अँगड़ाई लेकर करवट बदली ललित ने । नहीं जागेंगे यह ? एक बार और प्रयत्न करना चाहिए ? फिर उसने हिलाया उसे धीरे से । आँखें खोजी ललित ने, देखा उसकी ओर, लेकिन फिर बंद कर ली आँखें । तब निराश होकर दबे-पाँव चली गई चम्पा ।

खुल गया भेद । वज्रपात हुआ सुशीला के ऊपर । कौपने लगा उसका शरीर कौत्र के आवेग से । कुजटा, कजमुँदी, पतिता ! और कितना पाक-साक घतलाती है वह अपने को ! क्यों न होती उसकी दुर्गति ? कैसे भयानक भूख की उसने उसे अपने घर में जगह दे कर ! निकाल बाहर करे क्यों न वह उसे इसी समय ? किन्तु उचित होगा इस तरह इस समय शोर-शराबा करना ? वह गए नहीं इस समय उसके पास, किन्तु यह स्पष्ट है कि वह भी निर्दोष नहीं । अगर वह निर्दोष होते, तो कैसे साहस होता चम्पा को ऐसी हरकत करने का ? इतने उच्च विचारों वाला व्यक्ति भी इस हद तक गिर सकता है ! कैसे आश्चर्य और दुःख की बात है ! क्यों देखना पड़ा उसे यह दिन ? क्या बिगाड

था उसने किसी का । वहने खगीं उसकी आँसों से आँसू की धारें । कैसी अकथनीय वेदना थी इन आँसुओं में !

राम भर तो नहीं सकी सुशीला । सोती कैसे ? जब मृत्युान पिर आता है हृदय के आकाश में और करने खगता है मयदर हायहयनूप्य, तब किने का सफ़ती दे नींद ? उस समय तो मनुष्य की समान वेष्टाई केन्द्रा-नूत हो जाती है अपनी रथा करने में ।

सबेरे ही उसने कहा खलित से—“धम्पा को धपने साथ खे जा कर रंखगाकी पर भवार कर आओ । यह जहाँ चाहे खली जाय ।”

“क्यों ?”

“हसखिपू कि उमका इस घर में रहना खब मैं बरदारत नहीं कर सकनी ।”

“धपने धचन से हटना तो टोक नहीं !”

मैने यह धचन नहीं दिया था कि जीवन भर आधय दिवे रहूंगी उसे । और फिर घर में जब आग खगी हो, तो उसे सुभाने की कोशिश न करना था मूर्खता नहीं !”

“आग ?”

“गखत कहा है मैने ?”

तो यह सुशीला और धम्पा के बीच के किती साधारण मतभेद की बात नहीं । नहीं, उसका हशारा है शायद उस भयानक भेद की ओर, जिसे दिपाये रखने के लिये यह प्रयत्नशील है ।

“उस बात के बारे में तुम मुझसे ज्यादा जानते हो । हसखिपू यह आबरयक नहीं कि मैं साक-साक कहूँ । इतनी धप्रिय है बात कि उसे खवान पर खाना मुझे ज़रा भी पसन्द नहीं ।”

प्रक हो गया खलित का चेहरा । निष्कल हो गया उसका प्रयत्न ? जात हो गया उसे यह विकट भेद ?, क्या अनर्थ हुआ । किन्तु क्या तक दिपी रथ सकती थी ऐसी बात ? सुशीला की ओर देखने का वह साहस नहीं कर सका । निस्त्वध बैठा हुआ यह कुछ समय तक प्रशं की ओर साकता रहा, फिर उठ कर कमरे के बाहर खला गया ।

यह पहुँचा धम्पा के कमरे में । मुस्कराई धम्पा उसकी ओर देख कर । किन्तु यह गम्भीर बना रहा । आरधय हुआ धम्पा को ।

“तैयारी करो खजल ।”

“किस बात की तैयारी ?”

“यहाँ से जाने की।”

“क्यों ?”

हमारे सम्बन्ध की बात सुशीला को मालूम हो गई, और थब तुम्हारा यहाँ रहना वह गवारा नहीं कर सकती।”

“यह तो बड़ा बुरा हुआ।”

“बेशक।”

“मैं कहीं जाऊँ ?”

“रेल पर मैं तुम्हें सवार करा दूँगा। तुम जहाँ चाहो चली जाओ।”

“लेकिन मैं तो यहाँ से जाना नहीं चाहती ?”

“नहीं, यहाँ तुम्हारा रह सकना अब नामुमकिन है।”

“अगर आप चाहें तो कोई मुझे यहाँ से हटा नहीं सकता।”

“लेकिन ऐसी बात मैं चाह कैसे सकता हूँ ?”

“ऐसा चाहना आप का कर्ज है।”

“चम्पा ! सुशीला के साथ मैं एक बहुत बड़ा अन्याय कर चुका हूँ, जिसका प्रायश्चित्त शायद इस जन्म में न कर सकूँगा। अब मैं उसके साथ कोई दूसरा अन्याय नहीं कर सकता।”

“तब तो मेरे लिए कोई धारा नहीं।”

निकलने लगे चम्पा की आँखों से आँसू। यह देख कर बड़ा खलित दरवाजे की ओर। दरवाजे के समीप रुक कर उसने कहा—“तैयारी करो। थोड़ी देर में तौंगा आ जायगा।”

खलित चला गया। आँखें पोंछ कर मुस्कुराने लगी चम्पा। फिर वह सामान बाँधने लगी।

एक धरते के बाद एक तौंगे पर सवार होकर चम्पा और खलित रवाना हुए स्टेशन की ओर। सुशीला ने भेट नहीं की उस से। उसे भी साहम नहीं हुआ उसके सामने जाने का।

आ गया स्टेशन। वे उतरे तौंगे से। सामान उतारा एक कुछी ने। तौंगे वाले को पैसे दे कर पूछा खलित ने—“कहाँ जाओगी, चम्पा ?”

“मैं कहीं जाना नहीं चाहती।”

“यह क्या कह रही हो तुम ?”

“विसकुल ठीक कह रही हूँ। धागको छोड़ कर मैं कहीं नहीं जा सकती। हाँ, अगर आप भी मेरे साथ चलना स्वीकार करें, तो दूसरी बात है।”

“यह असम्भव है।”

“सम्भव असम्भव मैं कुछ नहीं जानती। अगर मे दूर मैं नहीं रह सकती। लेकिन अगर आप मुझे दूर करने हों पर तुझे है, तो मुझे मार दालिए।”

“मार दालें तुम्हें?”

“हाँ, मरने का तैयार हूँ।”

“तब कहा तुमने।”

कुछ देर तक वह चुप बका सोचता रहा। फिर उसने एक दूसरा तौगा चुनाया। कुली ने सामान तौगे पर रख दिया। उसे पीसे दकर वे तौगे पर सवार हो गए।

“कहाँ चलें, यात्री?” तौगे वाले ने पूछा।

“सिनहा होख।”

“बहुत भरडा।”

सिनहा होख पहुँच कर चग्पा को कमरे में डहरा कर खलित ने कहा—“दो चार दिन यहाँ रहो। तब तक तुम्हारे रहने के लिए कोई मकाम ठीक कर लेंगा। यहाँ तुम्हें कोई सफ़रौफ न होगी। रोज़ सुबह-शाम मैं आ जाया करूँगा।”

“ठीक है। कितने नेक है आप! आपको पाकर जितना सुख मिला रहा है मुझे, उतना कभी नहीं मिला था।”

चग्पा से विदा होकर घर पहुँचा खलित। शवसदता शक्ति यों सुशीला के चेहरे पर। खलित बैठ गया दालान में पड़े हुए तहत पर।

“सवार करा आप उसे?”

“हाँ।”

“कहाँ गई वह?”

“शपने मायके।”

“कुछ कहती थी?”

“नहीं, कुछ नहीं।”

वह भी बैठ गई सज़त पर। एक दीर्घ निश्वास लीं कर उसने
 १। —“मेरे हृदय में बड़ा गहरा घाव लगा है।”

“जानता हूँ, सूझा !”

“यह अच्छा नहीं हो सकेगा कभी ।”

“नहीं, अच्छा हो जायगा धीरे-धीरे ।”

“तुम्हें मैं बड़ा बलवान समझती थी । लेकिन मुझे अब मालूम हुआ कि एक बलवान आदमी भी कभी-कभी कमजोरी दिखा सकते हैं ।”

“मैं मानता हूँ कि मुझ से भूल हुई ।”

“साधारण नहीं, भयंकर भूल हुई ।”

“इस से इन्कार करने का मुझे कोई हक नहीं, यह मैं जानता हूँ । लेकिन तुम्हें यह भी सोचना चाहिए कि इस मामले में थोड़ी बहुत जिम्मेदारी तो तुम्हारी भी है ।”

“यह मैं जानती हूँ, और सब से अधिक रोद मुझे इसी बात का है । जब मैंने चम्पा को इस घर में आश्रय देने का प्रस्ताव किया था, तो केवल निःस्वार्थ सेवा-भाव ही मेरे मन में था । और उस समय मैं भूल गई थी कि होम करते समय कभी-कभी हाथ भी जल जाता है !”

एक हक उठी उसके मन में, और आँसू टपकने लगे उसकी आँखों से । जेब से रुमाल निकाल कर उसके आँसू पोंछे ललित ने । उसकी भी आँखें हवहवा आईं ।

जो अगाध समता सुरशीला के हृदय में थी वह ललित को क्या किए बिना कैसे रहती ? उससे क्या वह कभी विमुख हो सकती थी ? असम्भव । वह उसका परित्याग कर देता, तो भी कभी संकट के समय यदि वह उसे आवाज़ देता, तो क्या वह उसके पास दौड़ कर न जाती ? जाती—अवश्य जाती ! जाये बिना उससे रहा कैसे जाता ? वह तो अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर चुकी थी, और उससे कुछ पाने की चाहता से ऊपर उठ चुकी था । ऐसी दशा में गुँजाइश कहाँ थी घृणा के लिए, तिरस्कार के लिए, उपेक्षा के लिए । धीरे-धीरे भर रहा था उसका घाव । पीड़ा अब उस में बराबर नहीं बनी रहती थी । हाँ, टीस कभी-कभी उठती थी, और उसका भविष्य उस समय अंधकारपूर्ण होकर उसे अत्यन्त भयावह प्रतीत होता था ।

के समय भोजन के उपरान्त ललित नित्य घूमने

निकल जाता और वही राग गये घर खीटा। कभी कभी वह सारी रात गायब रहता। सुशीला जब प्रश्न करती, तो वह कोई न कोई महाना बना देता—इस मित्र के घर दाखल थी, उस अजसर के घर जलमा था, सुशापरा था, कवि-सम्मेलन था, यह था, यह था। और सुशाजा चुपचाप उसकी मज़ाई श्वीकार कर लेती।

एक दिन उसने महरी ने कहा—“बहूजी! धार तो कहती थी कि आपकी बहिन मायके चली गईं?”

“हाँ, ठीक तो कहा था मैंने।”

“मगर मैंने तो उन्हें बख़ देखा था।”

“कहाँ देखा था तुमने?”

“मैं परेड की तरफ़ अपने एक मातेदार के घर जा रही थी। वही रास्ते में आपकी बहिन दिखाई पड़ी। चायूजी भी उनके साथ थे। वह बच्चे को लिये हुए थे। मुझे देख कर वे ख़ोग जल्दी जल्दी आगे बढ़ गये। मैं अचरभ में पड़ गई।”

“तुम्हें बिरासत है महरी, कि तुमने ठीक देखा था?”

“बिलकुल ठीक देखा था मैंने। ये ख़ोग दूर भी नहीं थे, और मेरी चाँसों भी ज़मी खराब नहीं हुई हैं।”

सुशीला निस्तब्ध बैठी रही। उस समय वह ख़ागी हुई थी उस घनाघात के कुप्रभाव को रोकने में, जो अभी उसके ऊपर हुआ था।

“बहूजी!”

उत्तर नहीं दिया सुशीला ने। उसके चेहरे की और देखा महरी ने और उसे साहस नहीं हुआ आगे कुछ कहने का। चुपचाप उठ कर वह घरतन मजने के लिए चली गई।

सुशीला उठी। उसके पैर झड़खड़ा गये। सँभल कर वह शयनागार की ओर चली। उस कमरे में पहुँच कर, दरवाज़ा भेड़ कर, वह अपने पलंग पर गिर पकी और बिलस-बिलस कर रोने लगी। और वह निकला उसके उन श्रौंशुओं की धारों में उसका बचा खुबा अयमान, उसका मोह, उसका गौरव, उसका मान। फट गया फिर उसके हृदय का धाव और घेरने लगी उसे चारों से गहन उदासीनता।

ख़लित घर बापस धाया एक घटे के आगे। एधर-एधर कर उसने पूछा महरी से—“कहाँ हैं?”

“वहाँ बाधूजी,” मसाला पोसना रोक कर, शयनागार की ओर इशारा करके महरी ने उत्तर दिया ।

शयनागार में इस समय ! और दरवाजा भी बन्द है ! क्या मामला है ? सहम कर वह बड़ा धीरे-धीरे शयनागार की ओर । एक चरण रुक कर, धीरे से दरवाजा खोल कर उसने प्रवेश किया उस कमरे में । सुशीला बित लेठी हुई थी अपने बिस्तर पर और ताक रही थी एकटक सामने दीवार की ओर ।

“सूसी !”

कोई उत्तर नहीं दिया सुशीला ने । ज्यों की त्यों पड़ी रही वह ।

“इस तरह क्यों पड़ी हो, सूसी ?”

फिर कोई उत्तर नहीं मिला उसे । तब धीरे-धीरे वह पलंग की ओर ।

“सूसी !” पलंग के समीप पहुँच कर उसके मुख पर दृष्टि गड़ा कर उसने कहा ।

तब देखा सुशीला ने उसके चेहरे की ओर । ललित दहल गया उसकी आँखों का भाव देख कर ।

“क्या बात है, सूसी ?”

“कुछ नहीं ।”

“नहीं, कोई बात तो जरूर है,” पलंग पर बैठ कर वह बोला ।

“बात यह है कि अब मुझे इस जिन्दगी की ज़रा भी परवाह नहीं रही ।

“यह क्या कह रही हो तुम ?”

“बिलकुल ठीक कह रही हूँ मैं । तुम्हारी दुर्दशा इन आँखों से देखने के लिए मैं जिन्दा नहीं रहना चाहती ।”

सिर झुका कर ललित प्रश्न की ओर ताकने लगा ।

“तुममे एक भूल हुई । मैंने सोचा भूल हर आदमी से हो जाती है । फिर मैंने समझा, तुम सँभल गये, मामला रफ़ा-दफ़ा हो गया । लेकिन मुझे आज मालूम हुआ कि मेरा क्या हालत था । तुम चरित्र-वाम थे, सचे थे, सीधे सादे थे । फिर तुम गिरे, गिरते ही चले गये, और आज तुम्हें झूठ और कपट का सहारा लेना पड़ रहा है ।”

“वहाँ गई ?”

“अपने मायके ।”

“अथवा हुआ, यज्ञी गई । लेकिन मुझे तो ऐसा मासूम पड़ता है कि उसके जाने या न जाने से अब मुझे कोई सरोकार नहीं रहना चाहिए ।”

ललित के दिख पर खोट लगी । तड़प गया यह ।

दूसरा दिन आया । रोग घटा नहीं । ललित की चिन्ता बढ़ गई । उसे सान्त्वना दी जाकर ने ।

दिन डल चुका था । शाम का गई घी । मुशीला कुछ शान्त थी । ललित खगा हुआ या उसकी सेवा-सुधुपा में ।

“मुनते हो ?”

“हाँ ।”

“मैं अब चूँगी नहीं !”

“मत कहो ऐसी बात ।”

“नहीं, सच कहती हूँ ।”

“अपने मत से निकाल डालो यह प्रयास ।”

“क्रिञ्जल होगी यह कोशिश । मैं तुम्हें धोते मैं नहीं रहना चाहती ।”

“सूसी ! सूसी !”

“दिख जब टूट जाता है, तो लुप्तता नहीं । लुप्त भी जाता है, तो बहुत दिनों तक टहर नहीं सकता ।”

“तुम देवी हो सूसी, मैं दुराचारी हूँ । मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ । मुझ से पृथा करो, सूसी, मुझे धाप दो !”

“नहीं, नहीं, तुम मेरे स्वामी हो, आराध्य देव हो ! मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, दिख से प्यार करती हूँ ! तुम्हारे अनिष्ट की मैं कल्पना भी नहीं कर सकती ! इस जन्म का हमारा नाता अब टूटने को है, लेकिन मुझे विश्वास है कि हम फिर मिलेंगे ।”

बढ़ने लगी ललित की आँखों से घाँस की अविरल धारें । ठठ कर उसे धीरे से अपनी ओर खींच कर, मुशीला पोंडने लगी अपने आँखल से उसकी आँखें ।

सत्य निकली मुशीला की भविष्य-वाणी । यह सब बसी उसी दिन रात के तीसरे पहर । यज्ञपात हुआ ललित के ऊपर ।

“कौन है वह ?” धरने पूछा चम्पा से चकले में ।

“एक मेहमान ।”

“कोई रिरतेदार है सुन्दार ?”

“वह मेरे बही है, वो थाप है !”

“यानी ?”

“प्रेमी !” और वह हँस कर चली गई ।

कैसी भयंकर है यह स्त्री, कैसी निर्भंगा, दुष्ट, दुराचारिणी ! इतम कर सकेगा वह ऐसा भयानक दुराचार ? नहीं, नहीं ! अममर ! ला खिया उसने बेचारी सुशीला को । अब ला लेगी वह उसे भी । रा खीने दो इस अग्नि पत्र का । और क्या ही क्या है अब वहाँ ? अममव प्रतीत होने लगा उसे उस दूषित, विपाक पातावरण म सौंसे लेना । इन्त-ज्ञार नहीं कर सका वह नारते का । भाग निहला वह धरने उस घर से ।

घटों बैठा रहा वह अद्यय्य एक पार्क के निजंन कोने में । हपम कर सकेगा वह ऐसा विद्वट दुराचार । असम्भव । कौन है वह उसकी ? प्रेमिका ! प्रेमिका होने के योग्य है वह उसकी ? नहीं, नहीं । रसैज ! निराल बाहर करे क्यों न वह उसे ? नहीं, वह नहीं हो सकेगा । कहीं है उसमें साहस अपने व्यक्तित्व की अवहेलना करने का । अगर होता उसमें वह साहस, तो क्या चली जाती सुशीला वसे धोष कर ? सुशीला ! देवी सुशीला !

गाढ़ा हो गया निरा का अन्धकार । उठ कर धीरे धीरे चला वह घर की ओर । क्यों ला रहा है वह वहाँ ? दो पार्क करने के लिये चम्पा से । क्या होगा इध से ताम ? शायद कुछ नहीं ।

सामने आ गया घर । ठिठक गया वह एक पतली गली की मोड़ पर । दरवाजा खुला था घर का । बाहर निकला एक व्यक्ति । दरवाजे के समीप खड़ी थी चम्पा सती धर्मी । कुछ कहा उस व्यक्ति ने मुस्करा कर । हँस पड़ी चम्पा । चल पड़ा वह । दरवाजा बन्द कर लिया चम्पा ने । कौन है वह व्यक्ति ? था तो रहा है इधर ही ? वही मेहमान ? नहीं, नहीं, कोई और ही वह तो । एक नहीं, दो ? दो नहीं, न जाने कितने !

विर थापः भयानक अन्धकार छलित के चारों ओर । चकराने लगा उसका सिर । सूनी ! सूनी ! कहीं हो सूनी ? मलमला उठी प्रकार के

‘माया सीरीज़’ की पुस्तकें—

- | | |
|---|--|
| <p>1—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ
(प्रथम भाग)</p> <p>2—पृथ्वी (कहानी-संग्रह)</p> <p>3—बैंगला की श्रेष्ठ कहानियाँ</p> <p>4—प्यार (कहानी-संग्रह)</p> <p>5—सद्भुत कहानियाँ</p> <p>6—गुनीम श्यामशास्त्र
(कहानी-संग्रह)</p> <p>7—शत्रु (उपन्यास)</p> <p>8—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ
(दूसरा भाग)</p> <p>9—उर्ध्व की श्रेष्ठ कहानियाँ</p> <p>10—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ
(तृतीय भाग)</p> <p>11—कान्ता (उपन्यास)</p> <p>12—फुलवारी (कहानी-संग्रह)</p> <p>13—त्रिकोण (उपन्यास)</p> <p>14—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ
(चौथा भाग)</p> <p>15—रहस्यमयी (उपन्यास)</p> <p>16—स्त्रियों के चित्र
(कहानी-संग्रह)</p> <p>17—शान्ति (कहानी-संग्रह)</p> <p>18—श्रेष्ठ (उपन्यास)</p> | <p>19—प्रेम-कहानी</p> <p>20—धर्म को श्रेष्ठ कहानियाँ</p> <p>21—टापमदाय की श्रेष्ठ कहानियाँ</p> <p>22—मोघासों की श्रेष्ठ कहानियाँ</p> <p>23—उपवन (कहानी-संग्रह)</p> <p>24—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ
(पाँचवाँ भाग)</p> <p>25—इन्स्पेक्टर बोस (उपन्यास)</p> <p>26—रूस की श्रेष्ठ कहानियाँ</p> <p>27—बहुजी (कहानी-संग्रह)</p> <p>28—संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ
(छठा भाग)</p> <p>29—फिर मिलेंगे (कहानी-संग्रह)</p> <p>30—शमशान्तिक इत्यादि</p> <p>31—मंजरी (कहानी-संग्रह)</p> <p>32—अधूरा स्वप्न (कहानी-संग्रह)</p> <p>33—घादि और अन्त (उपन्यास)</p> <p>34—सद्माटा (कहानी-संग्रह)</p> <p>35—जीवन-धर्म (कहानी-संग्रह)</p> <p>36—मौजाना का पक्षीसिन
(हास्य-रस की कहानियाँ)</p> <p>37—कामना (कहानी संग्रह)</p> <p>38—जवाहरातों की खोरी
(कहानी-संग्रह)</p> <p>39—बदला (कहानी-संग्रह)</p> |
|---|--|



